अष्टावक्र-गीता

अष्टावक्र - गीता

9242452424

[illegible] मुमुक्षु भवन
अस्सी (वाराणसी)

Annual average exchange rates have been u
USD. Growth rates are always given in th
ment for inflation.[1] The division into life
European practice, ie health and personal
classed as non-life business.

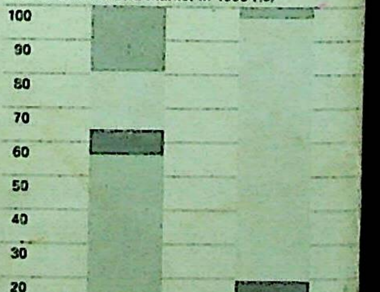
Non-life business is relatively well-developed, there is very great potential for growth in life business.

8853605555

Latin America's share of the world mar

In 1995, over 454 million people or 8% o
Latin America. They produced just 6% o
the total premium income for Latin Am
billion. This represents a world market s
relation to both population and economi
underdeveloped in all emerging markets.
regions, in terms of population and econ
roughly the same size as Central and East
of the Latin American insurance indust
Europe, however. Latin American non-l
premium volume as the emerging countr
populations. Life insurance, on the other
cant.

Figure 2
The insurance industry is underdeveloped in all emerging markets.



अष्टावक्रगीता

श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचिता

हठयोगारूढानि. श्री... ब्रह्मचारिणा विरचितया

भाषाटीकया सहिता

...R GITA

...en by

...ahmachari

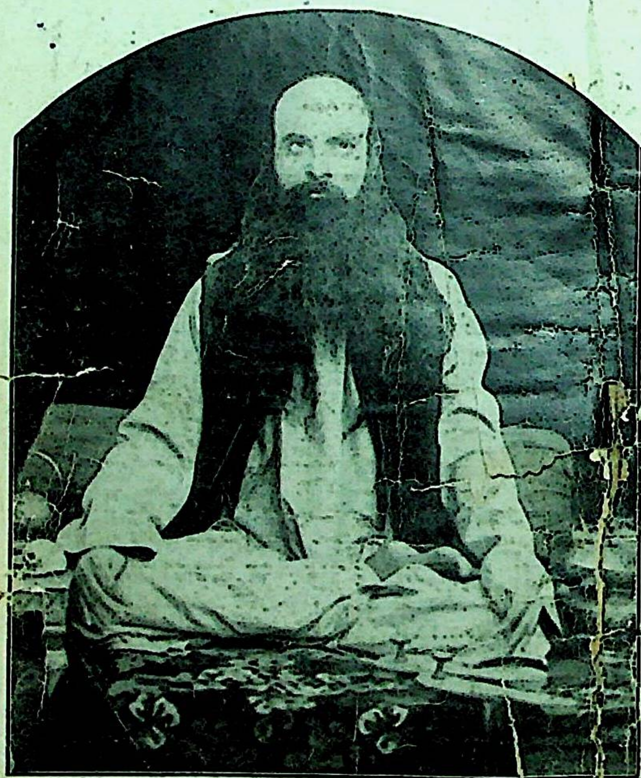
...नरे

...में ...ते

...p Sharma

...BAD.





स्वामी नर्मदानन्द ब्रह्मचारी हठाभ्यासी ।

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

तो तेरे चित्तसे मेरे कुरूप को देखकर उत्पन्न हुई घृणा दूर होजायगी, हे राजन् ! स्थूल दृष्टि सें तो अज्ञानी मूर्ख ही देखते हैं, ज्ञानी तो आत्मदृष्टि से ही देखा करते हैं । अष्टावक्र मुनिके इस उपदेशको सुनकर राजाके मन की आत्मज्ञानको प्राप्त करने की इच्छा और भी प्रबल होगयी और राजा अपने मनमें यह विचारने लगा, कि—अब मैं इनको ही गुरु बनाऊँगा, तब ही मेरा मनोरथ सिद्ध होगा इन से अधिक ज्ञानी गुरू कौन मिलेगा ? यह महात्मा तो ब्रह्मविद्याके समुद्ररूप जीवन्मुक्त हैं, अब तो इन की ही शरण लेनी चाहिये। ऐसा विचार कर के राजाने अष्टावक्रजी से कहा, कि हे मुने ! मेरे ऊपर कृपा करके चलिये. मेरे घरको पवित्र करिये, हे महात्मन् ! मैं संसार-बन्धन से छूटनेके लिये आपकी शरण लेना चाहता हूँ, आप कुछ दिनों मेरे घर निवास करके मेरे सन्देहों को दूर करिये और मुझमें आत्मदृष्टि उत्पन्न करदीजिये । तब मुनिने राजाको अधिकारी समझ कर उसकी प्रार्थना स्वीकार करली तथा राजाके भवनमें. पधारे तब राजाने अपने महलमें उत्तम स्थानमें रमणीय सिंहासन लगाकर बड़े आदरके साथ उसके ऊपर अष्टावक्रजीको बैठाया और अपने चित्तके सन्देहों को दूर करनेके लिये तथा ब्रह्मविद्या का उपदेश श्रवण करने की इच्छासे अष्टावक्रजी से पूछने लगा—

राजोवाच

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति ।
वैराग्यञ्च कथं प्राप्तमेतद् ब्रूहि मम प्रभो ॥ १ ॥

राजा जनकने कहा, कि—हे प्रभो ! अविद्यासे मोहित, नाना प्रकार के मिथ्या सङ्कल्प विकल्पोंको करने के कारण बारंबार जन्म मरणके दुःखोंको भोगनेवाले इस प्राणीको अविद्याकी निवृत्ति रूप ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ?, इसकी संसारबन्धनसे मुक्ति कैसे होती है ? और वैराग्य कैसे प्राप्त होता है ? इन तीन प्रश्नोंका उत्तर दीजिये ॥ १ ॥

अष्टावक्र उवाच

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज ।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ॥ २ ॥

राजा जनकके प्रश्न करने पर ज्ञानविज्ञानसम्पन्न परमदयालु अष्टावक्रजीने विचारा कि—यह राजा अधिकारी है, क्योंकि

५/पृष्ठ ११

॥ ॐ श्रीहरिः ॥

अष्टावक्र-गीता

भाषाटीका सहित

॥ ॐ तत्सत्परमात्मने नमः ॥ एक समय मिथिला नगरी के स्वामी राजा जनक के चित्त में पूर्वजन्मों के पुण्यों के प्रताप से यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि—इस असार संसाररूप बन्धन से छूटनेका कौनसा उपाय है ? इस बातको जानने के लिये किसी ज्ञानी गुरुके पास चलूँ। ऐसा विचार कर ऋषियों के आश्रम की ओर को चल दिये, कुछ दूर चलने पर मार्ग में ब्रह्मज्ञान के समुद्र महात्मा अष्टावक्रजी आते हुए दीखे, राजा तत्काल घोड़े परसे उतर पड़ा और मुनिको प्रणाम किया परन्तु मुनिके आठ स्थानोंमें टेढ़े शरीर को देखकर राजा अपने मनमें कहनेलगा, कि—इनका शरीर कितना कुरूप है? इसमें तो आठ जगह कूब उठे हुए हैं, क्यों कि-यह ऋषि जब चलते थे तो इनका शरीर आठ स्थानों में वक्र अर्थात् टेढ़ा होजाता था, इसकारण ही इनके पिताने इनका नाम अष्टावक्र रक्खा था, परन्तु यह परमयोगी और ब्रह्मविद्या में बड़े ही निपुण थे, इसकारण मुनि ने दिव्य दृष्टि से राजा के मन का भाव जान लिया और कहने लगे, कि-हे राजन्! देहदृष्टि को छोड़कर सार पदार्थ आत्मा की ओर को ध्यान दो, यह आत्मा टेढ़ा नहीं है, जिस प्रकार नदी टेढ़ी होती है, परन्तु उसमें का जल टेढ़ा नहीं होता है। जैसे घड़ा वा स्थान टेढ़ा होता है, उसके भीतरका आकाश टेढ़ा नहीं होता है, घड़े के गोल वा लम्बा होनेसे उसमें का आकाश गोल वा लम्बा नहीं होता है। जैसे इक्षु (गन्ना) टेढ़ा होता है उसमें का रस टेढ़ा नहीं होता है, तैसे ही यह पञ्चभूतका पुतला शरीर टेढ़ा है, आत्मा टेढ़ा नही है। जैसे घड़ेमें का आकाश निरवयव असङ्ग होता है तैसे । नर्मदानन्त्मा असङ्ग, निर्विकार, व्यापक, ज्ञानघन सच्चिदानन्दस्वरूप, द, अच्छेद्य, अभेद्य, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव है। अनित्य के धर्म नित्य आत्मा में नहीं आसकते। हे राजन्! ज्ञानीकी ष्टि होती है, शरीर आदि की ओर को दृष्टि तो अज्ञानी ही रखते कारण यदि तू इस स्थूलदृष्टि को हटाकर सूक्ष्मदृष्टि से देखेगा

संसारबन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छावाला मुमुक्षु है, इस कारण ही इसने मेरी शरण ली है, इसलिये इसको साधन-चतुष्टयपूर्वक ब्रह्मविद्याका उपदेश देना उचित ही है, क्योंकि—साधनचतुष्टयके विना अनेकों उपाय करनेसे भी ब्रह्मविद्या सफल नहीं होती है, यही बात भगवान् व्यासजीने भी कही है—" अथातो ब्रह्मजिज्ञासा " साधन-चतुष्टयके अनन्तर ब्रह्मके स्वरूप को जानने की इच्छा करनी चाहिये। ऐसा विचार करके अष्टावक्रजी ने कहा, कि—हे तात ! सकल अनर्थों की निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिरूप मुक्तिकी इच्छा होय तो कर्ण त्वचा आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके शब्द स्पर्श आदि विषयों को विषकी समान त्यागदे, क्योंकि—जैसे पुरुष विषको खालेने पर प्राणघातक दुःखसे कष्ट पाता है तैसे ही प्राणी विषयों को भोगने से भी संसार चक्रमें पड़कर असह्य दुःखोंसे पिसजाताहै, इसलिये मुमुक्षु को सबसे पहिले इनका त्याग करना चाहिये, इन विषयोंको अधिक भोगनेसे रोग आदि उत्पन्न होजाते हैं, बुद्धि मलिन होजाती है और सार असार का ज्ञान भी नहीं रहता है, अतः यह विषय महा अनर्थ की मूल हैं। यदि कहै कि—विषयों को त्यागने से तो शरीर नहीं रहसकता, अनेकों महात्मा ज्ञानसाधना भी करतेरहे हैं और विषयोंको भी भोगते रहे हैं, फिर आप मुझे विषयोंको त्यागनेका उपदेश क्यों देते हैं ? तो हे राजन् ! तेरा यह कहना ठीक है विषयोंका स्वरूपसे सर्वथा त्याग न बनसकने पर भी उनमें की आसक्ति को त्याग देना चाहिये, अर्थात् किसी विषयके न मिलनेपर उसके लिये व्याकुल होना और उसको पाने के लिये बड़ी भारी चेष्टा करना आसक्ति कहलाती है, इसके ही त्यागका नाम विषय-त्याग है। तात्पर्य यह है, कि—देह आदिमें मैं हूं और मेरा है इत्यादि अध्यास न कर। इसप्रकार बाहरी इन्द्रियोंके दमन का उपदेश दिया, जो ऐसा करता है उसका दम नामका पहला साधन सिद्ध होजाता है। और जो अन्तःकरण को अपने वशमें कर लेता है उसको शम नामकी दूसरी साधनसम्पत्ति प्राप्त होती है और जिसका अन्तःकरण अपने वशमें होजाता है उसका मन ब्रह्माकार होजाता है, इसका ही नाम वेदान्तमें निर्विकल्प समाधि है, इस निर्विकल्प समाधि की दृढ़ता के लिये क्षमा कहिये सब सह लेना, आर्जव कहिये अविद्या रूप दोषसे निवृत्ति रखना, दया कहिये अपना कोई मतलब न होनेपर भी पराया दुःख दूर करनेकी इच्छा रखना, तोष कहिये हूँ, सन्तुष्ट रहना और सत्य कहिये त्रिकालमें एकरूप रहना इन

पाँच सात्त्विक गुणोंका अमृत की समान सेवन कर। जैसे कोई मनुष्य अमृतकी समान औषधका सेवन करता है और उसके प्रभावसे उस के सब रोग दूर होजाते हैं तैसे ही जो पुरुष अमृतकी समान इन पांच गुणोंका सेवन करता है उसके जन्म मरण रूप रोग दूर होजाते हैं अर्थात् इस संसारमें जिस पुरुषको मुक्ति की इच्छा हो वह विषयों का त्याग कर देय नहीं तो मुक्ति कदापि नहीं होसकती ॥ २ ॥

न पृथिवी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान्।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये ॥३॥

राजा ने कहा, कि–हे मुने ! आप शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन विषयों का त्याग करनेको कहते हैं, परन्तु हमारे यह शरीर पञ्चभूतों के बने हैं और पञ्चभूतोंके धर्म वा स्वभाव ही पांच विषय हैं, सो यह पञ्चभूत अपने स्वभाव को कैसे त्याग सकते हैं ? क्योंकि–पृथिवीसे गन्धका वा गन्ध से पृथिवी का जुदा होना कदापि संभव नहीं है, किन्तु यह दोनों धर्म-धर्मी एकरूप होकर रहते हैं, ऐसे ही रस और जल, रूप और तेज, स्पर्श और वायु तथा शब्द और आकाश को जानो। तात्पर्य यह है, कि—जब पञ्चभूतों का त्याग होय तो शब्द आदि पांच विषयों का त्याग होसकता है और यदि पञ्चभूतों का त्याग होगा तब तो यह पञ्चभूतोंका पुतला शरीर ही नहीं रहेगा ? फिर उपदेश को कौन ग्रहण करेगा और मुक्तिसुखका अनुभव कौन करेगा ? इसकारण विषयों का त्यागना तो कभी बन ही नहीं सकता। इसके उत्तरमें मुनि कहते हैं कि–हे राजन् ! पृथिवी, जल, तेज, वायु, और आकाश तथा इन के जो धर्म शब्द स्पर्श आदि हैं सो न नहीं हैं इस पञ्चभूत के पुतले में तू अज्ञान के कारण 'मैं हूँ, मेरा है' ममाव को बाँध बैठा है, इसको त्याग दे और शब्द स्पर्श आ[illegible] आत्मा के धर्म नहीं हैं, ऐसा जानकर इनको त्याग दे। राजाने फिर कहा, कि—हे महाराज ! मैं गोरा हूँ, मैं सांवला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूं, मैं रूपवान् हूँ, मैं कुरूप हूँ इत्यादि प्रतीति इस पाञ्चभौतिक शरीरमें अनादिकाल से चली आती है, फिर आपने जो कहा कि तू देह नहीं है, सो इसमें क्या प्रमाण है ? इस पर अष्टावक्र कहा, कि—हे राजन् ! ऐसी प्रतीति अज्ञानी पुरुषों को होती है, कि[illegible] इसलिये तू देह इन्द्रियादि नहीं है, किंतु देह इन्द्रिय आदिका [illegible] और देह इन्द्रिय आदि से जुदा है। जैसे घड़े को देखनेवाला

घड़ेसे जुदा होता है, तैसे ही आत्मा भी सकल दोषों से रहित और सबका साक्षी है। यदि कहो कि—साक्षीपना तो बुद्धिमें रहता है तो बुद्धि ही आत्मा ठहरेगी? इसका उत्तर यह है, कि—बुद्धि तो जड़ है और आत्मा को चेतनरूप माना है इस कारण बुद्धि आत्मा नहीं हो सकती। राजाने कहा, कि—हे भगवन्! चैतन्यस्वरूप आत्माको जाननेसे क्या फल मिलेगा? इसके उत्तरमें अष्टावक्रजीने कहा, कि-साक्षी चेतनरूप आत्मा को जानने से पुरुष जीवन्मुक्त होजाता है, यही आत्मज्ञानका फल है और यही वेदांतशास्त्र का सिद्धांत है॥ ३॥

यदि देहं पृथक् कृत्वा चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि॥४॥

हे राजन्! यदि तू देह और आत्मा को अलग २ जान लेगा और आत्मा में चित्तको स्थिर करना रूप विश्राम को पाजायगा तो तू अब इस वर्तमान मनुष्य देह में ही सुख शान्ति को प्राप्त होजायगा, क्यों कि-जबतक चित्जड़ग्रन्थि कहिये चेतन में जड़के और जड़में चेतन के परस्पर अध्यासका नाश नहीं होगा तबतक बन्धन ही बना रहेगा, ज्यों हीं अध्यासका नाश हुआ कि मुक्त होजायगा अर्थात् कर्त्तापन भोक्तापन आदि अनेकों अनर्थों से छूटजायगा। अध्यास के नाश का ही नाम मुक्ति है इसके अतिरिक्त और कोई स्वरूप मुक्ति का नहीं है। शिवगीता में भी लिखा है, कि—"मोक्षस्य न हि वासोस्ति न ग्रामान्तरमेव वा। अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥" अर्थात् मोक्ष का वास किसी और लोक में या यहां के किसी ग्राम में नहीं है, किन्तु चित्जड़ ग्रन्थि के नाशका ही नाम मोक्ष है॥ ३॥

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव॥५॥

राजा ने कहा, कि—हे गुरो! मैं तो क्षत्रिय हूँ, क्षत्रिय वर्ण के धर्मों का और गृहस्थ आश्रम के धर्मोंका पालन करता हूँ, क्योंकि मेरा यह धर्म है। इस दशा में मैं आत्मा में विश्राम कैसे कर सकता हूँ? इस के उत्तर में अष्टावक्रजीने कहा, कि—हे राजन्! तू ब्राह्मण आदि वर्ण नहीं है, ब्रह्मचारी गृहस्थी आदि भी तू नहीं है। राजाने कहा, कि—महाराज! जब मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूं, मैं गृहस्थी हूं, मैं संन्यासी हूँ, इत्यादि अनुभव और प्रत्यक्ष होता है तब आप कैसे कहते हैं, कि-

तू ब्राह्मणादि वर्ण वा ब्रह्मचारी आदि आश्रमी नहीं है? इसका उत्तर देतेहुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि आत्मा का इन्द्रियों से तथा मन से प्रत्यक्ष नहीं होता है, जिसका प्रत्यक्ष होता है वह तो देह है। राजाने कहा कि—तो मैं क्या पदार्थ हूँ? अष्टावक्रजीने कहा, कि—तू देह आदि उपाधि से रहित, असङ्ग, आकारसे रहित, विश्वका साक्षी आत्मस्वरूप है, तुझमें वर्णाश्रमीपना नहीं है, इसकारण तू कर्मोंमें आसक्ति न करके चेतनरूप आत्मामें विश्राम करता हुआ परमानन्दको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

धर्माधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो ।
न कर्त्तासि न भोक्तासि मुक्त एवासि सर्वदा ॥६॥

राजा ने कहा कि—वेदने जो वर्णाश्रम धर्मोंका पालन करनेकी आज्ञा दी है, उनको न करने से तो पातक लगेगा और अपनेको कर्त्ता माने विना वह हो नहीं सकते, यह तो 'उभयतःपाशा रज्जुः' दोनों ओरसे फाँसी वनी हुई रस्सी है ? इसके उत्तरमें अष्टावक्रजीने कहा, कि—वर्णाश्रम आदि के धर्म तो ज्ञानप्राप्ति का अधिकारी बननेके निमित्त चित्तशुद्धि के लिये कहे हैं, जिसका चित्त शुद्ध होगया, जो आत्मजिज्ञासु मुमुक्षु बनगया उस ज्ञानीके लिये विधि निषेधके अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती है, हाँ! यदि तू लोकशिक्षा के लिये करना चाहे तो उसको आत्मासे अलग अन्तःकरणका धर्म मानकर भले ही कर, क्योंकि धर्म, अधर्म, सुख, दुःख ये सब मनके धर्म हैं, तुझ व्यापक आत्मा के नहीं हैं, तू न कर्त्ता है, न भोक्ता है, जो कर्त्ता होता है वही विहित निषिद्ध कर्म करता है और उसके सुख दुःखरूप फल का भोक्ता होता है, सो तुझमें नहीं है, क्योंकि—तू तो शुद्ध और सर्वदा मुक्तस्वरूप है ॥ ६ ॥

एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा ।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम् ॥७॥

राजा ने कहा, कि—हे भगवन् ! जब आत्मा शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्तस्वरूप है तो उसको बन्धन कैसे होजाता है, कि—जिस बन्धनको छुड़ानेके लिये बड़े २ योगी ऋषि मुनि उद्योग करते हैं ? अष्टावक्रजी ने कहा; कि—हे राजन् ! तू अद्वितीय, सच्चिदानन्द रूपसे सबका द्रष्टा और सदा मुक्तस्वरूप है, जैसे सूर्यमें कभी अन्धकार नहीं रह सकता तैसे ही तुझमें त्रिकालमें भी बन्धन नहीं है, परन्तु तू जो

स्वयंप्रकाश सारे जगत् का द्रष्टा होकर भी अपनेको द्रष्टा नहीं जानता किन्तु अपनेसे अन्य किसी और को ही द्रष्टा मानता है, यही बन्धन है। सकल प्राणियोंमें विद्यमान आत्मा एक ही है। अभिमानी जीव के जन्म जन्मान्तर ग्रहण करने पर भी आत्मा सदा मुक्त है। राजाने कहा, कि—तो फिर संसारबन्धन क्या पदार्थ है? मुनिने कहा कि—यह प्रत्यक्ष देहाभिमान ही संसारबन्धन है। वास्तवमें आत्मा निर्लेप है परन्तु देह और मनके धर्मोंको आत्माके धर्म मानकर बद्धसा होरहा है॥ ७॥

अहं कर्त्तेत्यहंमानमहाकृष्णाहिदंशितः।
नाहं कर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव॥८॥

राजाने कहा, कि—हे भगवन्! जगत्‌भरमें सब लोग अपने से भिन्न कर्मोंका साक्षी और द्रष्टा मानते हैं तथा अपनेको कर्मों का कर्त्ता मानते हैं, ऐसा क्यों होता है? अष्टावक्रजीने उत्तर दिया, कि—हे राजन्! मैं अमुक कर्मका कर्त्ता हूँ और मैं इस के फलको भोगूँगा, ऐसे अभिमान को तुम बड़ाभारी काला नाग जानो, सारे संसारको इस नागने डस रक्खा है, इसीसे सब प्राणी वारंवार जन्म मरणरूप कालचक्रमें पिसा करते हैं, उस नागका डसाहुआ तू भी अपने को कर्त्ता और भोक्ता मान रहा है। उस अभिमानरूपी सर्पके विषसे तू ज्ञानरहित और जर्जरीभूत होरहा है, यह विष जबतक चढ़ा रहेगा तबतक तुझको सुख नहीं मिलसकता, इसलिये 'मैं कर्त्ता नहीं हूं' इस बातके विश्वासरूपी अमृतका पानकर और सुखी हो, जिस दिन तुझको यह पक्का विश्वास होजायगा, कि—मैं देहादि जड़ पदार्थ नहीं हूं किन्तु निर्लिप्त आत्मस्वरूप हूँ उस दिन तुझको मोह स्पर्श नहीं करसकेगा और तू परमसुखी होगा तथा और किसी प्रकार से तू सुखी नहीं होसकता॥ ८॥

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवन्हिना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव॥९॥

राजाने कहा, कि-हे महाराज! मैं उस अमृतको किसप्रकार पीऊं अष्टावक्रजी उत्तर देते हैं कि—हे राजन्! तू ऐसी भावना कर कि—मैं एक हूँ अर्थात् मुझमें सजातीय विजातीय और स्वगत भेद नहीं है। एक जातिकी वस्तुओंमें जो एकका दूसरेसे भेद होता है वह सजातीय भेद कहलाता है, जैसे एक वृक्षका दूसरे वृक्षसे भेद होता है।

एक जातिका दूसरी जातिसे जो भेद होताहै वह विजातीय भेद कहलाता है, जैसे वृक्ष जातिका घटजातिसे भेद होताहै और अपनेमें ही जो भेद होता है वह स्वगत भेद कहलाताहै, जैसे वृक्षका अपनी शाखा आदि से भेद है। आत्मामें यह कोई भेद नहीं है, क्योंकि-आत्मा एक ही सब जगत्में व्यापक, पारमार्थिकसत्तावाला और नित्य है, दूसरा कोई ऐसा है ही नहीं, इसलिये उसमें सजातीय भेद और विजातीय भेद नहीं हैं तथा उसके अवयव नहीं हैं इसलिये आत्मामें स्वगत भेद भी नहीं है। अतः हे राजन्! तू ऐसा निश्चय रख कि-मैं एक व्यापक और शुद्ध स्वयंप्रकाश हूं अर्थात् अविद्या आदि मल मुक्त मैं नहीं हूं। ऐसे निश्चयरूप अग्निसे अज्ञानरूप वनको भस्म करडाल, तब तू जन्म मरणके दुःखके कारण होनेवाले शोकसे रहित होकर परम आनन्द को प्राप्त होगा ॥ ९ ॥

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत् ।
आनन्दपरमानन्दः सबोधस्त्वं सुखं चर ॥ १० ॥

राजा ने कहा, कि—हे गुरो! आप के कहने के अनुसार निश्चय कर लेने पर भी तो जगत् सत्यसा ही दीखता है, इसकी स्वरूप से निवृत्ति तो नहीं होती और जबतक इसका स्वरूप से अभाव न हो तबतक शोक दूर कैसे हो सकता है?। अष्टावक्रजी ने कहा, कि—हे राजन्! जिस आत्मा में यह जगत् रज्जुसर्प की समान कल्पित प्रतीत होता है वह आत्मा आनन्दस्वरूप है। अर्थात् जैसे रज्जुके अज्ञान के कारण मन्द अन्धकार में पड़ी हुई रज्जु ही सर्परूप प्रतीत होती है वास्तव में वह रज्जु सर्परूप नहीं है और न वह रज्जु पहिले सर्प थी तथा आगे को भी रज्जु सर्प नहीं होगी, किन्तु अज्ञान करके मन्द अन्धकार आदि सहकारी कारणवश भ्रान्ति से रज्जु सर्प प्रतीत होता है और उस मिथ्या सर्प को देखकर पुरुष भयभीत होता है, भागता है गिरता है और जब कोई उस अन्धकारमें पड़ी हुई रज्जुका ज्ञाता बता देता है, कि—वह सर्प नहीं रज्जु है तब या वह प्रकाश से देखता है तब उसका भय आदि दूर होता है। तिसी प्रकार ब्रह्मके विषें जगत्की प्रतीति अज्ञान से कल्पित है और उससे जन्म मरणका भय आदि भी भासते हैं, परन्तु जब कोई मिथ्या संसार के स्वरूपको जाननेवाला गुरु उपदेश देता है कि—यह जगत् मिथ्या है। तू शुद्ध ब्रह्म है तुझ में यह त्रिकालमें कभी भी नहीं है। जैसे निद्रारूप दोषसे पुरुष स्वप्नमें अनेकों प्रकार के सिंह व्याघ्र आदि को रचलेता है और उनसे आप ही भय-

भीत होता है, परन्तु निद्राके दूर होने पर उस कल्पित सिंह और उसके भयका नाश होजाता है, इसी प्रकार हे राजन् ! यह जगत् तेरे ही अज्ञान का कल्पना किया हुआ है, जब आत्मस्वरूप ज्ञान से तेरे अज्ञानका नाश होजायगा तब ही जगत्का अभाव होगा तू सुख पावेगा, इसलिये हे राजन् ! तू अज्ञानरूपी निद्रा से जाग और अपने ज्ञानस्वरूप को प्राप्त होकर संसारमें सुखसे विचर ॥ १० ॥

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि ।
किम्वदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्॥११॥

राजाने कहा, कि-हे भगवन् ! जब सब संसार रज्जुमें सर्प की समान कल्पित है और आत्मा वास्तव में परमानन्दस्वरूप है तो फिर पुरुषको बन्ध मोक्ष कैसे होते हैं ? अष्टावक्रजी ने उत्तर दिया, कि-हे राजन् ! अभिमान से बन्धन होता है जिसको यह अभिमान होता है, कि—मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मै पुष्ट हूँ वही कर्मों को करके उन के फलों को भोगता है तथा अनेकों जन्म मरण रूप बन्धनको प्राप्त होता है और वह यह जानता है कि—मैं अल्पज्ञ जीव संसारबन्धन में बँधा हुआ हूँ वही बद्ध है परन्तु जिसको गुरुकी कृपा से यह बोध होजाता है, कि-मैं ब्राह्मण क्षत्रियादि वा सुरूप पुष्ट आदि नहीं हूँ यह तो शरीर के धर्म हैं मैं तो मायामल से रहित आकार से रहित शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्तस्वरूप हूँ वही मुक्त है। बन्ध और मोक्ष अभिमानसे ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् मरणकालमें जैसा अभिमान होता है तैसी ही गति होती है । श्रुति स्मृति पुराणोंमें तथा ज्ञानी पुरुषों के मुख से जो यह किम्वदन्ती सुनी जाती है सो सत्य ही है कि-" यान्ते मतिः सा गतिः" । भगवान् ने गीता में भी कहा है, कि-"यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥" । निरन्तर जीवनमें जिसका ध्यान रखता हुआ अन्त में भी उसके ही स्मरण में शरीर को त्यागता है तो जीव जन्मान्तर में भी उस ही भावको पाता है । श्रुति भी कहती है, कि-"तं विद्याकर्मणी समारभेते पूर्वप्रज्ञा च । " इस सबका तात्पर्य यही है, कि—बन्ध और मोक्ष अभिमान से ही प्राप्त होते हैं, ॥ ११ ॥

आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः ।
असङ्गो निःस्पृहः शान्तो भ्रमात्संसारवानिव १२

राजा ने कहा, कि-हे भगवन् ! नैयायिक लोग जीवात्मा के बन्ध

मोक्षको पारमार्थिक मानते हैं सो ठीक है या नहीं? अष्टावक्रजीने उत्तर दिया, कि–हे राजन् ! जैसे अज्ञानी पुरुष भ्रमसे सीपी में चाँदी मान लेते हैं तैसे ही अज्ञानी पुरुष भ्रम में पड़े हुए इस आत्मा को संसार वाला मानते हैं वास्तव में यह संसारी नहीं है, किन्तु आत्मा तो साक्षी है अहङ्कार आदि अन्तःकरणके धर्मों को जानने वाला है विभु कहिये सबका अधिष्ठान है अर्थात् नाना प्रकारका संसार उससे उत्पन्न हुआ है वह पूर्ण है, अर्थात् अन्तर्यामीरूप से सर्वत्र व्यापक परम पुरुष है। एक कहिये सजातीय विजातीय स्वगतभेदसे रहित है। इस मायाके कार्यरूप संसार के बन्धन से मुक्त है। चेतन है। क्रिया से रहित असङ्ग, निस्पृह और शान्त कहिये प्रवृत्ति निवृत्ति से रहित है इस लिये आत्मा वास्तवमें बन्धन में पड़नेवाला और बन्धनसे मुक्त होनेवाला संसारी नहीं है॥ १२ ॥

कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय ।
आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथान्तरम् १३

मैं देह हूँ, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं इत्यादि अन्तःकरणके धर्मोंका अनादिकालका अज्ञानरूप अध्यास जो आत्मा में जीवों ने मान रक्खा है, वह अध्यासरूप भ्रम एकबार मात्र आत्मज्ञानका उपदेश देने से दूर नहीं होसकता। व्यासजीने ब्रह्मसूत्रमें भी कहा है "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" श्रुतिमें "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" कहा है। इसलिये आत्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन बार २ करना चाहिये, अतः राजा को फिर आत्मज्ञानका उपदेश देते हुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—हे राजन् ! मैं आभास कहिये प्रतिबिम्ब हूं इस भावको त्याग दे तथा मैं शरीररूप हूं, स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं ऐसी ममतारूप बाहरी भाव को तथा मैं दुःखी हूं मैं सुखी हूं ऐसे भीतरी भावको त्याग दे और सदा ऐसी भावना रख कि मैं निर्विकार, ज्ञानस्वरूप, अद्वितीय व्यापक आत्मा हूं ॥ १३ ॥

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक ।
बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तं निःकृत्य सुखी भव॥१४

राजाने कहा कि—हे भगवन् ! आप आत्मस्वरूपका उपदेश और दीजिये, क्यों कि—अनादिकालसे देह आदिमें जो अभिमान जमरहा

है वह एक बार के उपदेश से दूर नहीं होसकता ? अष्टावक्रजी बोले कि--हे बेटा जनक ! तू अनादिकालसे "मैं देह हूं" ऐसे अभिमानरूप फांसीसे बंधाहुआ है इस फांसीसे तू ऐसे अनेकों जन्म में भी नहीं छूट सकेगा, इसलिये तू 'मैं शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसे ज्ञानरूपी खड्गसे उस फांसी को काट डाल, तब ही तू सुखी होसकेगा ॥ १४ ॥

निःसङ्गो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरञ्जनः ।
अयमेव हि ते बंधः समाधिमनुतिष्ठसि ॥ १५ ॥

राजाने कहा, कि—योगी तो समाधिको ही बन्धनकी निवृत्ति का कारण कहते हैं सो ठीक है या नहीं ? । अष्टावक्रजीने कहा, कि-पातञ्जल योग में जो कहा है कि--जिसके अन्तःकरणकी वृत्ति विरामको प्राप्त होजाती है उसका मोक्ष होजाता है सो यह अनन्त मुक्ति नहीं है इसलिये तू अन्तःकरण की वृत्तिको दबोचना रूप सविकल्प समाधि न कर, क्यों कि—तू तो निःसङ्ग, क्रियारहित स्वप्रकाश और निर्मल है। सविकल्प हठसमाधिका अनुष्ठान भी तेरे लिये बन्धन ही है, आत्मा तो सदा शुद्ध मुक्त है, समाधि तो भ्रान्तियुक्त जीव के चित्तको स्थिर करनेके लिये है, उससे आत्माको हानि लाभ कुछ नहीं होता, जिसको सिद्धिलाभ कहिये आत्मज्ञान होजाता है उसको अन्य समाधिके अनुष्ठान की क्या आवश्यकता है ? उसके लिये तो समाधिका अनुष्ठान भी बन्धन ही है। समाधिका अनुष्ठान तो आत्मज्ञानहीन पुरुषको ज्ञान प्राप्तिके लिये करना चाहिये ॥ १५ ॥

त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः ।
शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं मा गमः क्षुद्रचित्तताम् ॥ १६ ॥

अब जनककी विपरीतबुद्धिको दूर करने के लिये अष्टावक्रजी कहते हैं, कि-हे राजन् ! जैसे कंकण कुण्डल आदि गहने सोनेसे व्याप्त होते हैं तैसे ही यह दीखनेवाला संसार तुझसे व्याप्त होरहा है और जैसे वस्त्र सूतमें पुरे हुए होते हैं तैसे ही यह जगत् तुझमें पुरा हुआ है वास्तव में विचारदृष्टि से देखने पर तू सब प्रपञ्च से रहित शुद्ध बुद्ध चेतनरूप है, तू अपनी चित्तकी वृत्तिको क्षुद्र कहिये विपरीत न कर अर्थात् शरीर इन्द्रियादि को आत्मा न मान और चेतन आत्मा को शरीर इन्द्रियादि न समझ ॥ १६ ॥

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः ।
अगाधबुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः ॥ १७॥

हे राजन् जनक ! तू निरपेक्ष कहिये छः ऊर्मियों (धर्मों) से रहित है अर्थात्-क्षुधा(भूख) पिपासा (प्यास) यह दो प्राणकी ऊर्मी(धर्म) हैं। शोक तथा मोह यह दो मनकी ऊर्मी हैं तैसे ही जन्म मरण यह दो देहकी ऊर्मी हैं। परन्तु तू (आत्मा) इन ऊर्मियोंसे जुदा है। तैसे ही तू निर्विकार है अर्थात् तुझमें छः भावविकार नहीं हैं। जायते अस्ति, वर्तते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति, अर्थात् उत्पन्न होना, स्थित होना, बढ़ना, परिणामको प्राप्त होना, क्षण २ में क्षीण होना और नष्ट होजाना, यह छः भावविकार कहलाते हैं अर्थात् यह छः विकार की दशायें प्रत्येक पदार्थ में होती हैं परन्तु हे राजन् ! तू (आत्मा) इन विकारदशाओं से शून्य है, यह विकार तो स्थूल देहमें रहते हैं, तू तो इन अवस्थाओं का साक्षी है, निर्भर अर्थात् सत्-चित्-आनन्दघन है। शीतल अर्थात् सुखरूप हैं। अगाधबुद्धि है अर्थात् तेरे ज्ञानस्वरूपका और छोर कोई नहीं पासकता तथा तू अक्षुब्ध कहिये अविद्यारूपक्षोभसे रहित है, इसकारण तू प्रतिक्षण ऐसी भावना किया कर, कि-मैं शुद्ध चेतनरूप हूँ ॥ १७ ॥

साकारमनृतं विद्धि निराकारन्तु निश्चलम् ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः ॥ १८ ॥

पीछे आत्मा को सत्यस्वरूप और जगत् को अध्यस्त कहा है, जैसे दर्पणमें दीखनेवाला प्रतिबिम्ब अध्यस्त कहलाता है यह प्रतिबिम्ब देखनेमात्रको होता है, सत्य नहीं होता है, क्योंकि-दर्पण को देखने पर उसमें जो पुरुष होता है उसका शुद्ध प्रतिबिम्ब दीखता है और दर्पणको हटाने पर वह प्रतिबिम्ब पुरुषमें लीन होजाता है ऐसे ही चेतन पुरुषका प्रतिबिम्बरूप यह जगत् भासरहा है वास्तव :में जगत् सत्य नहीं है आत्मा ही सत्य है, यह बात समझाने के लिये अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—हे राजन् ! इन आकार वाले शरीरधारीमात्रको तू मिथ्या जानकर त्याग दे, क्योंकि—मिथ्या जगत्के मोहमें पड़ने से अनेकों कष्ट उठाने पड़ते हैं। इस पर एक दृष्टान्त है, कि—एक पुरुषके पुत्र नहीं होता था और इस कारण वह अपने चित्तमें बड़ा दुःखी रहा करता था, एक दिन रातको वह अपनी स्त्रीके साथ पलँग पर लेटा हुआ बातें कर रहा था, स्त्रीने कहा कि—

क्योंजी! यदि परमात्मा हमको एक पुत्र देदेय तो उसको कहाँ सुलाओगे? वह पुरुष पीछेको हटा और बोला कि यहाँ बीचमें सुला लेंगे। स्त्रीने फिर कहा कि-यदि उसके बाद एक और होजायगा तो उसको कहाँ सुलाओगे? वह थोड़ासा और पीछे को हट कर बोला कि—उसको भी बीचमें ही सुलालेंगे। स्त्रीने फिर कहा, कि—यदि तीसरा और होजायगा तो उसको कहाँ सुलाओगे? पुरुष और कुछ पीछेको हटकर उत्तर देना चाहता था, कि—पलँगसे नीचेको गिर पड़ा और उसके शरीरमें बड़ी चोट लगी, टाँग टूट गयी, तबतो दुःखके मारे रोनेलगा, रोनेको सुनते ही पड़ोसी दौड़ आये और पूछनेलगे, कि—अरे भाई! टाँग कैसे टूटी? तब उस पुरुष ने उत्तर दिया, कि—विना उत्पन्न हुए लड़केने मेरी टाँग तोड़ दी, न जाने सचमुच पैदा होकर मुझे कितना कष्ट देता। सो हे जनक! जितने आकारवाले स्त्री पुत्र आदि मिथ्या पदार्थ हैं सब दुःखदायी और नाशवान् हैं, थिर रहनेवाला निश्चल तो आत्मा ही है। श्रुति भी कहती है—"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस तत्त्व उपदेश को यदि तू हृदयमें धारण कर लेगा तो फिर तुझको 'पुनरपि जननं, पुनरपि मरणम्' के चक्रमें नहीं पड़ना पड़ेगा १८

यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः।
तथैवास्मिन् शरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः॥ १९॥

अब अष्टावक्रजी वर्णाश्रम धर्मवाले स्थूल शरीरसे और पुण्यपाप रूप धर्मवाले सूक्ष्म शरीरसे विलक्षण परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप का उपदेश करतेहुए बोले कि—हे राजा जनक! वर्णाश्रमधर्मवाला स्थूल शरीर और पुण्यपापरूप धर्मवाला लिङ्गशरीर ये दोनों जड़ हैं इसलिये आत्मा नहीं होसकते, क्योंकि-आत्मा तो व्यापक है। जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस दर्पण में प्रतिबिम्बित शरीरादिमें भीतर और बाहर सर्वत्र दर्पण व्यापा रहता है अर्थात् वह प्रतिबिम्ब अध्यस्त है, दर्पणमें देखने मात्रको है स्वरूपसे सत्य नहीं है तैसेही अपने आत्मा में अध्यस्त जो शरीर है उसके भीतर और बाहर सर्वत्र चेतन आत्मा ही व्यापकर स्थित है, कल्पित पदार्थकी अधिष्ठानसे भिन्न अपनी सत्ता कुछ भी नहीं होती वह अधिष्ठानकी सत्तासे ही सत्यसा प्रतीत होता है, कहा भी है- 'यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्' जिस परमात्मामें यह विश्व रज्जुमें कल्पित सर्पकी समान प्रतीत होरहा है, वास्तवमें मिथ्या है॥१९॥

एकं सर्वगतं व्योम वहिरन्तर्यथा घटे ।
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म सर्वभूतगणे तथा ॥२०॥

ऊपर के श्लोक में दर्पणका दृष्टांत दिया था, उससे कहीं जनक को यह संदेह न होजाय, कि-जैसे दर्पण परिच्छिन्न है तैसे ही आत्मा भी परिच्छिन्न होगा, इसलिये अष्टावक्रजीने कहा, कि-हे राजन् ! जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक एक ही आकाश घट मठ आदि पदार्थोंमें भीतर बाहर मध्य सर्वत्र व्यापक है तैसे ही नित्य अखण्ड अविनाशी आत्मा भी सकल भूतोंमें भीतर बाहर मध्यमें व्याप रहा है । श्रुति भी कहती है, कि-"एप त आत्मा सर्वस्यांतरः" । यह तेरा आत्मा ही सबका अंतर्यामी है, ऐसा जानकर हे जनक ! तू ज्ञानरूपी खड्ग को लेकर देहाभिमानरूप फाँसी को काटडाल और सुखसे विचर ॥ २० ॥

प्रथम प्रकरण समाप्त.

अहो निरञ्जनः शांतो बोधोऽहं प्रकृतेः परः ।
एतावंतमहं कालं मोहेनैव विडम्बितः ॥ १ ॥

अष्टावक्रजी के उपदेशरूप अमृत को पीकर जनक को चेतनस्वरूप आत्माका साक्षात्कार हुआ, उसके अनुभवको प्रकट करता हुआ राजा आश्चर्य के साथ कहता है, कि-हे गुरो ! मुझे तो बड़ा आश्चर्य प्रतीत होरहा है ! आज तक मैं गुरु की कृपा से वञ्चित रहने के कारण मोह से धोखा खारहा था और आत्मा तथा देह आदिके स्वरूपका विवेक न होने के कारण संसारके दुःखोंसे महा पीड़ा पारहा था, परन्तु अब आपकी कृपा से देखरहा हूँ, कि-मैं तो अविद्याके मल और उपा- उपाधिरूप आवरणसे रहित हूँ, मुझे कोई विक्षेप नहीं होता है, मैं तो शांत कहिये सब विकारोंसे रहित, ज्ञानस्वरूप और प्रकृति से पर अर्थात् मायाके अंधकारसे रहित हूँ ॥ १ ॥

यथा प्रकाशयाम्येको देहमेनं तथा जगत ।
अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किञ्चन ॥ २ ॥

हे गुरो ! मैं जिस प्रकार स्थूल शरीरको प्रकाशित कर रहा हूँ तिसी प्रकार जगत्को भी प्रकाशित कररहा हूँ जैसे देह जड़ है तैसे ही जगत भी जड़ है। यहां शङ्का होती है, कि-शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है

फिर इन दोनोंका सम्बन्ध किसप्रकार होता है ? इसका उत्तर यह है, कि-देह आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध कल्पित है,सत्य नहीं है,क्यों कि-सत्य और मिथ्याका पारमार्थिक संबन्ध हो ही नहीं सकता,प्राणी भ्रान्ति के कारण देहमें ममत्व बाँध बैठा है यह इसका अज्ञान है। देह आदि जो कुछ दृश्य जगत् है सो मेरे विषें कल्पित है। अथवा यदि परमार्थदृष्टिसे विचार करो तो यह देह आदि जगत् मेरेमें है ही नहीं है, जगत्की उत्पत्ति और प्रलय दोनों अज्ञानकल्पित हैं, मैं तो मायासे और उसके कार्यसे पर ज्ञानस्वरूप हूं ॥ २ ॥

सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाऽधुना ।
कुतश्चित्कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते ॥ ३ ॥

राजाने कहा,कि-हे गुरो ! लिङ्गशरीर और कारणशरीर इन दोनों का विवेक तो हुआ ही नहीं फिर प्रकृति से पर आत्मा कैसे जाना जायगा? अष्टावक्रजीने कहा, कि-हे राजन्! लिङ्गशरीर, कारणशरीर और स्थूलशरीर के साथ सम्पूर्ण विश्व, जो कि—अपनी सत्तासे शून्य आत्मा की सत्ता से सत्यसा प्रतीत होता था उसको मैं गुरु और शास्त्रके उपदेशसे विवेक पाकर, मिथ्यारूप जानगया हूँ और अब उस मिथ्या जगत्को त्यागकर मैं अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का दर्शन कररहा हूँ ॥ ३ ॥

यथा न तोयतो भिन्नास्तरङ्गाः फेनबुद्बुदाः ।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम् ४

यदि शरीर या जगत्को आत्मासे भिन्न कहा जायगा तब तो द्वैत भाव सिद्ध होजायगा, इस शङ्काका उत्तर देते हुए कहते हैं, कि—जैसे तरङ्ग, झाग और बुलबुले जलसे भिन्न नहीं होते हैं,क्योंकि-उन सबका उपादान कारण एकमात्र जल ही है। तैसे ही आत्मा से प्रकट होने वाला जगत् भी आत्मा से भिन्न नहीं है। जैसे तरङ्ग झाग आदि में जल व्याप्त है, तैसे ही सब जगत् में आत्मा व्याप्त है। जैसे रज्जु में कल्पित सर्प रज्जु से भिन्न नहीं होता है, किन्तु रज्जुरूप ही होता है तैसे ही कल्पित जगत् भी अधिष्ठानभूत आत्मासे जुदा नहीं है ॥ ४ ॥

तन्तुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारतः ।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम् ॥ ५ ॥

अब दूसरे दृष्टान्तसे जगत् की आत्मासे अभिन्नता सिद्ध करते हुए कहते हैं, कि-विना विचारके स्थूल दृष्टिसे देखने पर वस्त्र सूत से अलग प्रतीत होता है परन्तु विचारके साथ देखने पर तो वस्त्र सूत्ररूप ही सिद्ध होता है इसी प्रकार अज्ञानदृष्टि (स्थूल दृष्टि) से देखाजाय तो जगत् ब्रह्म से विलक्षण (भिन्न) प्रतीत होता है परन्तु विचारदृष्टि से देखने पर तो सब जगत् आत्मरूप ही है। जैसे वस्त्र में सूत्र अपनी सत्ता से व्यापक है तैसे ही आत्मा भी अपनी सत्ता से अधिष्ठान रूप होकर सारे जगत् में व्यापरहा है ॥ ५ ॥

यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा
तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरंतरम् ६

अब और दृष्टांत देते हैं, कि—जैसे इक्षु (गन्ने) के रसमें शर्करा व्याप्त है और शर्करामें गन्नेका रस व्याप्त है तैसे ही परमानन्दरूप आत्मरूपमें यह सब जगत् अध्यस्त है और जगत्में वाहर तथा भीतर निरन्तर आत्मा व्याप्त है, इस कारण यह विश्व भी आनन्दस्वरूप ही है तथा अस्ति भाति प्रिय स्वरूप से सर्वत्र व्याप्त है ॥ ६ ॥

आत्माज्ञानाज्जगद्भाति आत्मज्ञानान्न भासते ।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद्भासते न हि ॥ ७ ॥

यदि कहो, कि-जो जगत् आत्मा से भिन्न नहीं है तो भिन्न प्रतीत कैसे होता है? तो इसका उत्तर यह है,कि-जबतक आत्मज्ञान नहीं होता है तबतक ही जगत् भासता है और जब आत्मज्ञान होजाता है तब जगत् कोई वस्तु नहीं होता,जैसे अन्धकारमें पड़ी हुई रज्जु भ्रमसे सर्प प्रतीत होने लगती है, परन्तु जब दीपकका प्रकाश होजाता है तब निश्चय होजाता है, कि-यह सर्प नहीं है ॥ ७ ॥

प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः ।
यदा प्रकाशते विश्वं तदाऽहं भास एव हि ॥८॥

जब तक आत्माके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता है, तब तक आत्माके स्वरूपका प्रकाश भी नहीं होता है, इस दशामें जगत्के स्वरूपका भान कैसे होता है ? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि—नित्य-बोधरूप प्रकाश मेरा (आत्मा का) स्वाभाविक स्वरूप है इसकारण मैं (आत्मा) उस प्रकाशसे भिन्न नहीं हूँ। यदि कहो कि—जब आत्मा

चैतन्य ही जगत्का प्रकाशक है तब फिर अज्ञान कैसे रह सकता है? क्योंकि—ज्ञान और अज्ञान दोनों अन्धकार और प्रकाशकी समान परस्पर विरोधी हैं। इसका उत्तर यह है, कि चेतन दो प्रकारका है- सामान्य-चेतन और विशेष-चेतन। विशेष-चेतन अज्ञानका विरोधी कहिये बाधक है, परन्तु सामान्यचेतन अज्ञानका बाधक न होकर साधक है। जैसे दो प्रकारकी अग्नि होती है—एक सामान्य और दूसरी विशेष, उसमें सामान्य-अग्नि तो सब काठोंमें व्यापक है, परन्तु काठोंके स्वरूपको जलाती नहीं है, किन्तु बनाये रखती है, क्योंकि—जगत्के जितने पदार्थ हैं वह सब भूतोंके पञ्चीकरण से बने हैं, लकड़ी भी पञ्चीकृत पञ्चभूतकी बनी हुई है, उसको सामान्य-तेज, जोकि—उसके भीतर है वह जलाता नहीं है। परन्तु जब दो लकड़ियों की रगड़ से एक विशेष अग्निरूप तेज उसमें से ही उत्पन्न होता है वह तुरन्त उस लकड़ी को भस्म कर डालता है, क्योंकि—वह उसका विरोधी कहिये बाधक है, ऐसे ही सामान्यचेतन जो सर्वत्र व्यापक है, वह उस अज्ञानका विरोधी कहिये बाधक नहीं है, किन्तु अपनी सत्ता से उसका साधक है और जो आत्मसाक्षात्काररूपा वृत्तिसे प्रकट हुआ विशेषचैतन्य है वह अज्ञानका नाशक है। यदि सामान्यचेतन अज्ञान का विरोधी होजाय तब तो जड़की सिद्धि भी न हो, यदि आत्माको प्रकाश माना जाय तब तो जगत् भर अन्धा होजाना चाहिये, इसलिये आत्मा के प्रकाश से ही जगत् भास रहा है, स्वतः जगत् मिथ्या है "यस्य भासाज्जगद् भाति" ॥ ८ ॥

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।
रौप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा॥९॥

राजाने कहा, कि—हे गुरो! मैं स्वयंप्रकाश हूँ तो भी अज्ञान करके मेरे विषैं जगत् भासता है, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है, इसका समाधान करते हुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि जैसे भ्रान्तिसे सीपीमें चाँदीका भान होता है, जैसे भ्रान्तिसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होती है और जैसे भ्रान्तिसे ही सूर्यकी किरणोंमें जलकी प्रतीति होती है वैसेही अज्ञान करके मुझ स्वप्रकाश आत्मामें जगत् भास रहा है, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है ॥ ९ ॥

मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति।
मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा॥१०॥

जैसे घट मट्टी का कार्य है, मट्टी से उत्पन्न होता है और फि फूटकर मट्टी में ही समा जाता है । ऐसे ही यह जगत् प्रकृति क कार्य है, प्रकृति से उत्पन्न होता है और फिर प्रकृति में ही समाजात है, चेतन आत्मासे न जगत् उत्पन्न होता है और न उसमें समाता है, क्योंकि—जगत् जड़ है, आत्मा चेतन है, चेतन से जड़की उत्पत्ति नहीं होसकती, ऐसा सांख्य शास्त्रवाले कहते हैं ? राजाकी इस शङ्का का उत्तर देते हुए अष्टावक्रजी कहते हैं,कि—सांख्य परिणामवादी हैं। "सतत्त्वतोऽन्यथाभावः परिणामः" एक वस्तुका वास्तव में बदलकर अन्य वस्तु बन जानेका नाम परिणाम है,जैसे दूध का परिणाम दही होता है, मट्टी का परिणाम घट और सुवर्ण का कुण्डल होता है, तैसे ही प्रकृति का परिणाम यह जगत् है । परन्तु वेदान्तमतमें विवर्त्तवाद माना है "अतत्त्वतोऽन्यथाभावो विवर्त्तः" एक ही वस्तु अपने पहिली अवस्था की अपेक्षा दूसरी अवस्थामें प्रतीतमात्र होनेलगे, इसका नाम विवर्त्त है, जैसे रज्जुमें सर्पका प्रतीत होना विवर्त्त है, रज्जु ही सर्परूप में भास जाती है । यदि जगत्को ब्रह्मका परिणाम मानाजाय तब यह शङ्का होसकती है, कि—चेतनसे जड़ कैसे उत्पन्न होगया और कैसे चेतनमें लय होता है ! विवर्त्तवादी वेदांत के मत में यह शङ्का नहीं होसकती, क्यों कि-जैसे रज्जुके अज्ञान से रज्जु सर्परूप प्रतीत होती है और रज्जुका ज्ञान होते ही सर्पकी निवृत्ति होजाती है, ऐसे ही ब्रह्म (आत्मा) के स्वरूपके अज्ञानसे जगत्की प्रतीति होती है और आत्माके स्वरूपका ज्ञान होते ही जगत् निवृत्त होजाता है। परिणामवाद वेदमें न लिखा होनेसे अप्रमाण है तथा युक्ति के भी विरुद्ध है, क्योंकि—घट मट्टीका वा कुण्डलका परिणाम नहीं होसकते ! उत्पत्तिकालमें भी घट मृत्तिकारूप ही है और अन्तमें भी मट्टी ही होता है, उसका गोलाकार रूप और घट नाम ये दोनों कल्पित हैं, यदि उसमेंसे मट्टी निकाल लीजाय तो उसके नामरूपका पता ही नहीं लग सकता इसकारण घट यह नाम और आकार मिथ्या है "मृत्तिकेत्येव सत्यम्" मट्टी ही घट आदि रूपमें दीखजाती है, इस कारण वेदांतका विवर्त्तवाद ही ठीक है, इस ही आशय को लेकर अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—जैसे घट मट्टीमेंसे उत्पन्न होता है और अन्तमें मट्टीमें ही समा जाता है और जैसे तरङ्ग जलमेंसे उत्पन्न होती है और अन्तमें जलमें ही समाजाती है

तथा जैसे खँडुए कुण्डल आदि सुवर्णमेंसे उत्पन्न होते हैं और अन्तमें सुवर्णमें ही समाजाते हैं। ऐसे ही मायासहित जगत् आत्मा से उत्पन्न हुआ है और अन्तमें आत्मामें ही समा जायगा। श्रुति भी कहती है—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयान्त्याभिसंविशन्ति" ॥ १०॥

अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तजगन्नाशेऽपि तिष्ठतः ॥११॥

राजाने कहा, कि—यदि ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण मानोगे तब तो ब्रह्म विकारी नाशवान् होना चाहिये? क्योंकि—जैसे घड़ा फूटता है और मट्टी बिखर जाती है, तैसे ही जगत्का नाश होने पर ब्रह्म भी छिन्न भिन्न होजाना चाहिये? इसके उत्तरमें अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—(आत्मा—ब्रह्म) सकल जगत्का उपादान कारण हूँ तो भी मेरा नाश नहीं होता है यह बड़े अचरज की बात है! सुवर्ण खँडुए कुण्डलका उपादान कारण होता है और खँडुआ वा कुण्डल टूटने पर सुवर्ण विकारको प्राप्त होता है, परंतु मैं तो जगत्का विवर्त्ताधिष्ठान हूँ, अर्थात् जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम होने पर सर्प विवर्त्त कहलाता है और रज्जु अधिष्ठान कहलाती है तैसे ही जगत् मेरे (आत्मा) विषैं प्रतीतिमात्र है! जैसे दूधका दही वास्तवमें अन्यथा-भाव (परिणाम) होता है, तैसे जगत् मेरा परिणाम नहीं है, मैं सकल विश्वका कारण और अविनाशी हूँ, इससे मैं अपने स्वरूप (आत्मा) को प्रणाम करता हूँ। प्रलयकालमें ब्रह्मासे लेकर तृण पर्यंत सब जगत्का नाश होजाता है तब भी वह आत्मचैतन्य विद्य-मान रहता है। श्रुति भी कहती है "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनंतस्वरूप है ॥ ११ ॥

अहो अहं नमो मह्यमेकोऽहं देहवानपि।
क्वचिन्न गन्ता नागन्ता व्याप्य विश्वमवस्थितः १२

राजाने कहा, कि—हे गुरो! अनेकों देहों में जुदे २ दुःख आदि भोगनेवाले अनेकों आत्मा प्रतीत होते हैं। यदि आत्मा सबों में एक ही होय तो एकके सुखी वा दुःखी होने पर सब सुखी वा दुःखी होने चाहिये एकके चलनेसे सबका चलना और एकके बैठनेसे सब का बैठना होना चाहिये? इसके उत्तरमें अष्टावक्र जी कहते हैं, कि—

हे राजन्! यही तो बड़ा अचरज है कि—मैं (आत्मा) एक होकर हूँ, वि भी नाना उपाधियों के कारणसे नाना रूप प्रतीत होता और नाना प्रकारके सुख दुःखों को भोगने वाला सा दीखता है जैसे एक ही सूर्य अनेकों जलभरे पात्ररूप उपाधियों में अनेकों प्रतिबिम्बरूप से ठण्ड गरम और हिलता चलता आदि प्रतीत होता है परन्तु वह सूर्य एक ही होता है, वे ठण्ढापन गरमपना हिलना चलना आदि उपाधियों के धर्म होते हैं तैसे ही सुख दुःख गमन आगमन आदि सब देहादि उपाधियों के धर्म हैं, आत्मा के नहीं हैं इसकारण ही एक ही आत्मा गमन आदि से रहित विश्व में व्यापक होकर स्थित है ऐसे आत्मा को प्रणाम है ॥ १२ ॥

अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
अथवा यस्य मे सर्वं यद्वाङ्मनसगोचरम् ॥ १३ ॥

राजाने कहा, कि—हे गुरो! आत्माको तो आप असङ्ग कहते हैं फिर उसका देह आदिसे सङ्ग कैसे होता है? अष्टावक्रने कहा, कि हे राजन्! यह आत्मदेव बड़ा ही आश्चर्यरूप है, इस को प्रणाम है इस जगत् में मेरी (आत्माकी) समान चतुर कौन है? क्योंकि—मैं अघटनघटना करनेमें प्रवीण हूँ देखो जैसे चुम्बक पत्थर आप क्रिया से रहित है परन्तु लोहे को क्रिया कराता है तैसे ही आत्मा में भी एक विलक्षण शक्ति है यह शरीर में रहकर भी शरीर आदिका स्पर्श नहीं करता और शरीर आदि से क्रिया करवाता है। जैसे अग्नि घृत के पिण्ड से अलग रहकर उस में लीन न होकर भी घृतपिण्ड को पिघलाकर रसरूप कर देता है तैसे ही आत्मा भी सब से असङ्ग रह कर और क्रियारहित होकर भी सकल विश्वको चिरकाल धारण कर रहा है ॥ १३ ॥

अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
अथवा यस्य मे सर्वं यद्वाङ्मनसगोचरम् ॥ १४ ॥

राजाने कहा, कि-हे गुरो! विना संबन्ध के जगत् को धारण करना कैसे बनसकता है? भीत (दीवार) घरकी छत आदिको धारण करती है, परन्तु काष्ठ आदिसे उसका सम्बन्ध होता है, सो आत्मा विना सम्बन्ध के जगत्को कैसे धारण करता है? अष्टावक्रजी कहते

हैं, कि-हे राजन् ! मैं (आत्मा) बड़ा आश्चर्यरूप हूँ इस लिये आत्मदेवको प्रणाम करता हूँ । आत्मा की आश्चर्यरूपता यह है, कि-परमार्थदृष्टि से तो आत्माका किसीसे सम्बन्ध नहीं है और विचारदृष्टि से देखाजाय तो मुझ आत्मदेवसे भिन्न भी कोई नहीं है । यदि सांसारिक दृष्टिसे देखाजाय तो जो कुछ मन वाणीसे विचाराजाता है वह सब मेरा सम्बन्धी है, परन्तु वह सम्बन्ध मिथ्या है । जैसे सुवर्ण और कुण्डलका सम्बन्ध है तैसा ही मेरा और जगत् का सम्बन्ध है अर्थात् मेरा विश्वभर से संबन्ध है भी और नहीं भी है ऐसे आश्चर्यरूप आत्मदेवको मेरा प्रणाम है ॥ १४ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम् ।
अज्ञानाद्भाति यत्रेदं सोऽहमस्मि निरञ्जनः ॥ १५ ॥

राजाने कहा, कि-हे गुरो ! ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता यह त्रिपुटीरूप जगत् सत्यसा प्रतीत होता है, फिर आपने जगत् और आत्माके सम्बन्ध को मिथ्या कैसे कहा ? । अष्टावक्रजी उत्तर देते हैं, कि-ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता इन तीनोंका इकट्ठा नाम त्रिपुटी है । यह त्रिपुटी वास्तविक अर्थात् सत्य नहीं है । यह त्रिपुटी जिस मेरे (आत्मा के) विषें अज्ञान से भासती है, वह मैं (आत्मा) निरञ्जन कहिये मायाके कार्यरूप प्रपञ्चसे रहित चेतनदेव हूँ ॥ १५ ॥

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम् ।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः ॥ १६ ॥

यहाँ शङ्का होती है, कि-यदि आत्मा निरञ्जन है तो उसका दुःख के साथ सम्बन्ध कैसे होता है ? इसका उत्तर यह है, कि-सुख दुःख का सम्बन्ध भ्रान्तिमात्र है, वास्तवमें नहीं है । निरञ्जन आत्मा में द्वैतभ्रम से सुख दुःख भासते हैं, वास्तव में आत्मा सुखी या दुःखी नहीं होता है ! राजाने कहा, कि-इस द्वैतभ्रमरूप महारोगकी औषध क्या है ? अष्टावक्रजी ने उत्तर दिया कि-मैं मायासे और मायाके कार्य जगत्से रहित, चिन्मात्र, निरञ्जन अद्वितीय आत्मा हूं और यह दृश्यमान संपूर्ण जड़ संसार मिथ्या है, सत्य नहीं है, ऐसा ज्ञान ही द्वैतभ्रमको नष्ट करता है, इसके सिवाय त्रिविध दुःखनिवृत्ति की और औषध नहीं है ॥ १६ ॥

बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया ।
एवं विमृशतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम ॥ १७

मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, परन्तु मैंने अज्ञानसे अपने (आत्मा) के वि उपाधि कहिये अहङ्कार द्वैतप्रपञ्चकी कल्पना करली है अर्थात् अज्ञानवश यह समझने लगा था, कि—मैं अखण्डानन्द ब्रह्म नहीं किन्तु देहादि हूं, परंतु यह सब प्रतीति विचारशून्य दशामें होती अब तो विचार के द्वारा मुझे निर्विकल्प कहिये वास्तविक निजस्व (ब्रह्म) के विषें स्थिति कहिये जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होगयी है ॥ १७

अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम् ।
न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रांतिः शान्ता निराश्रया ॥

ऊपरके श्लोकसे यह सिद्ध होता, है कि—मुक्ति विचारसे उत्पन्न होती है, यदि ऐसा है तब तो मुक्ति का नाश होजायगा, क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह कभी नष्ट अवश्य होता है और य यह कहो, कि—विचार के बिना ही मुक्ति होजाती है तब तो गु और शास्त्रका उपदेश न पानेवाले विचारशून्य पुरुषों की भी मुक्ति होजानी चाहिये ? इसका उत्तर यह है, कि—यदि वास्तव में दे जाय तब तो मेरा (आत्माका) न मोक्ष है न बंधन है, क्यों कि— नित्य चेतनस्वरूप हूँ । यदि कहो कि तो वेदांतशास्त्र के विचार और गुरुके उपदेश का क्या फल होगा? तहां कहते हैं कि-भ्रांति का होजाना ही वेदांत के विचार का फल है अर्थात् चिरकालसे दे दिकों में जो भ्रांति होरही है कि—मैं देह हूँ, मैं इन्द्रिय हूं, मैं द्विज मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ इस भ्रांतिकी जो निवृत्ति है कि-मैं न देह हूँ, इन्द्रिय आदि हूँ, किन्तु देहादिकों से पर सबका साक्षी ज्ञानस्वरूप ऐसा निश्चय होना ही शास्त्र के विचारका फल है । राजा कहता कि-बड़ा आश्चर्य है, कि-जो मेरे विषें स्थित भी सकल विश्व वास्त में मेरे विषे स्थित नहीं हैं इतना विचार करने ही भ्रान्ति नष्ट गयी क्यों कि-वह निराश्रय कहिये अज्ञान करके कल्पित थी, वास्त विक नहीं थी ॥ १८ ॥

सशरीरमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चितम् ।
शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन्कल्पनाधुना ॥ १

यहाँ शङ्का होती है, कि—रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति दूर होजाने पर भी उस रज्जुरूप अधिष्ठान के विद्यमान रहने पर फिर भी कभी न कभी मन्द अन्धकार में उस में सर्प की भ्रान्ति होना संभव है, ऐसे ही अधिष्ठान चेतन कहिये मुक्तात्मा के विद्यमान रहते हुए उसमें फिर भी कभी द्वैतप्रपञ्च की कल्पना होजाना सम्भव है, इसप्रकार तो मुक्त पुरुष भी फिर संसारी होजायगा ? इस शङ्का का उत्तर देते हुए कहते हैं, कि—शरीरसहित यह प्रपञ्च तो कुछ है ही नहीं, इस को न सत् ही कहा जासकता है, न असत् ही कहाजासकता है, यह तो अज्ञान का कार्य होने से अनिर्वचनीय है उस अनिर्वचनीय अज्ञानके दूर होनेसे उसके कार्य विश्वकी भी निवृत्ति होजायगी, फिर मायारूप मलसे रहित चित्स्वरूप शुद्ध मुक्त आत्मामें विश्व उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसे प्रकाश के द्वारा मन्द अन्धकार के दूर होने पर फिर रज्जु में सर्पकी भ्रान्ति नहीं होती ऐसे ही प्रकाशस्वरूप आत्माके ज्ञान से फिर कभी विश्वकी उत्पत्ति नहीं होती ॥ १९ ॥

शरीरं स्वर्गनरकौ बन्धमोक्षौ भयन्तथा।
कल्पनामात्रमेवैतत्किं मे कार्यं चिदात्मनः ॥ २० ॥

अब यह शङ्का होती है, कि—जब सब प्रपञ्च को मिथ्या मानोगे तब तो वर्ण जाति आदि को धारण करनेवाला स्थूल शरीर भी मिथ्या ही ठहरेगा और इस दशामें वर्ण जाति के लिये प्रवृत्त हुए विधि-निषेध शास्त्र (वेदवचन) भी मिथ्या ठहरेंगे, तथा विधिनिषेध शास्त्रमें वर्णन करे हुए स्वर्ग और नरक भी मिथ्या होजायँगे तब तो न कोई स्वर्ग को ही चाहेगा और न कोई नरकसे ही डरेगा ? तथा शास्त्र में बताये हुए बंधन और मोक्ष भी मिथ्या होजायँगे ? इसका उत्तर देते हुए अष्टावक्रजी कहते हैं,कि-हे राजन् ! शरीर, स्वर्ग, नरक, बंध, मोक्ष तथा भय आदि सब कल्पनामात्र मिथ्या हैं, सच्चिदानंदस्वरूप शुद्ध आत्मा का इनसे कोई सम्बंध नहीं है,क्योंकि-सत्य मिथ्याका संबंध बन ही नहीं सकता जितने विधिनिषेधरूप वाक्य हैं वे सब अज्ञानियोंकी चित्तशुद्धि के लिये हैं, ज्ञानवान्का उनमें अधिकार नहीं है, इसलिये ज्ञानवान्की दृष्टिमें शरीर आदि विधिनिषेध सब अवास्तविक ही हैं ॥ २० ॥

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।
अरण्यमिव संवृत्तं क रतिं करवाण्यहम् ॥ २१ ॥

जैसे स्वर्ग नरक आदि से मेरा संवन्ध नहीं है तैसे ही इस लो के साथ भी मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है। वड़े आश्चर्य की बात कि—मैं जनसमूहमें निवास करता हूँ परन्तु द्वैतदृष्टि न होनेके कार वह जनसमूह मेरे मनको अरण्यसा प्रतीत होता है क्योंकि—मैं उसको मिथ्या जान लिया है फिर मैं उस में क्या प्रीति करूँ ? ज्ञा पुरुष मिथ्या वस्तु के साथ प्रेम नहीं करते हैं अज्ञानी ही मिथ्या पदार्थ में प्रीति बाँधते हैं इतना ही ज्ञानी और अज्ञानीमें, भेद है ॥ २१ ॥

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित् ।
अयमेव हि मे बन्ध आसीद्या जीविते स्पृहा ॥ २२

यहां शङ्का होती है, कि—शरीर में तो अहन्ता ममता अव ही करनी होगी नहीं तो शरीरादिके द्वारा संसार का व्यवहार नहीं लच सकता? इस के उत्तर में कहते हैं, कि-मैं देह नहीं हूँ क्यों कि-देह जड़ है और मैं चेतन हूँ । देह मेरा नहीं है, क्योंकि— असङ्ग हूँ। मैं अहङ्कारी जीव भी नहीं हूँ, क्योंकि—अहङ्कार धर्म कर्त्तापन भोक्तापन है और मैं तो अकर्त्ता, अभोक्ता, अहङ्कार साक्षी चेतनस्वरूप ब्रह्म हूँ । "निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छा न करोमि च। द्रष्टारश्चेत्कल्पयंति किम्मे स्यादन्यकल्पनात् ॥" सो भीख मांगना, नहाना, पवित्र रहना, इन सबको न मैं चाहता हू करता हूँ, यदि कोई देखनेवाला ऐसी कल्पना करलेय कि-मैं इन करता हूँ, तो दूसरेके कल्पना करने से मेरी क्या हानि होसक है। अर्थात् मेरी कुछ हानि नहीं होसकती "गुञ्जापुञ्जादि दह नान्यारोपितवन्हिना । नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे । शीतकाल में जब वन के बंदरों को जाड़ा लगता है तब वह गुञ्जा (घुंघचियों) को इकट्ठी करके उस ढेरके चारों ओर घिरकर जाते हैं और उन गुञ्जाओंमें अग्निकी मिथ्या कल्पना कर हैं, क्योंकि सटकर बैठनेसे शरीरों की गरमी उत्पन्न होजाती है, प वह समझते हैं,कि उस गुञ्जाके पुञ्जसे ही हमको गरमी लग रही जैसे कि—वह बन्दरोंकी कल्पना की हुई अग्नि जलानेका काम न करसकती, तैसे ही अज्ञानियोंके कल्पना किये हुए व्यवहार भी विद्व की कुछ हानि नहीं करसकते, क्योंकि—वह तो अकर्त्ता अभो तथा असङ्ग है। यहां शङ्का होती है, कि-तो फिर ज्ञानी अज्ञानी

को जीवित रहनेकी इच्छा क्यों होती है ? । इसका उत्तर यह है, कि-यह जीवित रहनेकी इच्छा ही उनका बन्धन है और कोई बन्धन नहीं है। इस जीवनकी इच्छासे ही अविवेकी पुरुष चोरी जारी आदि अनेकों अनर्थ करते हैं और कर्मानुसार संसारबन्धनमें पड़ते हैं । मुझे तो जीने या मरनेकी इच्छा नहीं है, यह तो अन्तःकरणका धर्म है, मुझ असङ्ग चैतन्यस्वरूप आत्माका धर्म नहीं है, इसलिये आत्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होजाने पर पुरुषकी जीवनमें इच्छा नहीं रहती है।

अहो भुवनकल्लोलैर्विचित्रैर्द्राक् समुत्थितम् ।
मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते ॥ २३ ॥

अहो ! कैसे आश्चर्यकी बात है, कि-जैसे पवन चलने पर समुद्रमें अनेकों तरङ्गें उत्पन्न होजाती हैं और वायुके शान्त होने पर समुद्र में ही लीन होजाती हैं तथा वह तरङ्ग समुद्रसे जुदी नहीं होती हैं तैसे ही मुझ आत्मारूप महासागरमें चित्तरूप वायुके वेगसे अनेकों ब्रह्माण्डरूप तरङ्गें उत्पन्न होती हैं और चित्तके शान्त होने पर लीन होजाती हैं तथा वह मुझसे (आत्मासे) भिन्न नहीं हैं, किंतु मुझमें ही कल्पित हैं, कल्पित पदार्थ अधिष्ठानसे जुदा नहीं होता है ॥ २३ ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति ।
अभाग्याज्जीववणिजो जगत्पोतो विनश्वरः ।२४।

मुझ अनन्त चेतनसमुद्रमें चित्तवायु कहिये सङ्कल्प विकल्प रूप मन नामक पवनके शान्त होने पर अर्थात् मनके सङ्कल्पविकल्पोंसे रहित होजाने पर जीवात्मारूप व्यापारीके अभाग्य कहियें प्रारब्धकर्मके नाश रूप विपरीत पवनसे संसारसमुद्रमें तैरता हुआ शरीरादिरूप जहाज नाशको प्राप्त होजाता है ॥ २४ ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधावाश्चर्यं जीववृत्तयः ।
उद्यान्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः २५

बड़ा आश्चर्य है, कि-निष्क्रिय, निर्विकार मुझ चेतनमहासागरमें अविद्या काम्य—कर्मरूप स्वभावसे जीवरूप तरङ्गें उत्पन्न होती हैं, आपसमें शत्रुभावसे टकराती हैं (मार काट करती हैं), कोई मित्र-भावसे परस्पर क्रीड़ा करती हैं और अविद्या काम्यकर्मका नाश होने पर मेरे ही विषें लीन होजाती हैं अर्थात् जीवरूप तरङ्गें अविद्यारूप

बंधनसे उत्पन्न होती हैं, वास्तवमें (आत्मा) चित्रूप हूँ। जैसे घटाकाश महाकाशमें लीन होजाता है, तैसे ही सम्पूर्ण जीव मेरे विषै लीन होजाते हैं ॥ २४ ॥

द्वितीय प्रकरण समाप्त

अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः ।
तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः ॥ १ ॥

आत्मज्ञानके अनुभवसे युक्त भी अपने शिष्यको व्यवहारमें स्थित देखकर उसके आत्मज्ञानके अनुभवकी परीक्षा करनेके लिये उसकी व्यवहार में स्थितिकी निन्दाकर आत्मानुभवमें स्थितिका उपदेश देते हुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि-हे जनक! अविनाशी कहिये तीनों काल में सत्यस्वरूप आत्माको किसी देश कालमें भेद प्राप्त नहीं होता है, ऐसा जानकर सच्चा आत्मज्ञानी बना हुआ धैर्यधारी तू धनसंग्रह करनेमें प्रीति रखनेवाला कैसे प्रतीत होता है ? ॥ १ ॥

आत्मज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे ।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे ॥ २ ॥

राजाने कहा, कि—हे मुने ! आत्मज्ञान होजाने पर धन आदिका संग्रह करनेमें क्या दोष है ? अष्टावक्रजी ने कहा, कि—हे राजन् ! जैसे मनुष्यको सीपी का ज्ञान न होनेसे उसमें चाँदीकी भ्रान्ति होकर उसको लेलेनेका लोभ होता है, इसीप्रकार आत्मस्वरूपका ज्ञान न होनेसे भ्रान्तिवश प्रतीत होनेवाले स्त्री पुत्र धन आदि विषयोंमें प्रीति होती है, जिनको आत्मज्ञान होजाता है उनकी धन आदि विषयोंमें प्रीति नहीं होती है ॥ २ ॥

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरङ्गा इव सागरे ।
सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि ॥३॥

हे राजन् ! जिसप्रकार समुद्रमें तरङ्गें फुरती हैं अर्थात् अपनी सत्तासे रहित अभिन्नरूप होती हैं, तैसेही जिस आत्मामें यह विश्व अपनी सत्तासे रहित अभिन्नरूप है, मैं वही सबका अधिष्ठान असङ्ग आत्मा हूँ, ऐसा जानकर भी तू तृष्णासे व्याकुल हुए दीन पुरुषकी समान मैं हूँ मेरा है इत्यादि अभिमान करता हुआ विषयोंकी ओरको क्यों दौड़ता है ? ॥ ३ ॥

श्रुत्वापि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम्।
उपस्थेऽत्यन्तसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति ॥ ४ ॥

अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—हे राजन्! मेरे मुखसे वेदान्तके वाक्यों के द्वारा अतिशुद्ध, सुन्दर, चेतन आत्माको सुनकर तथा साक्षात्कार करके फिर भी तू समीपमें स्थित विषयोंमें आसक्त होताहुआ मलिनता कहिये मूढ़ताको प्राप्त हुआ जाता है, यह भी अचरजकी बात है! ॥४॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
मुनेर्जानत आश्चर्यं ममत्वमनुवर्त्तते ॥ ५ ॥

ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त सकल प्राणियोंमें आत्मा अधिष्ठानरूपसे विद्यमान है और सकल विश्व आत्माके विषें अध्यस्त कहिये कल्पित है, जैसे कि—रज्जुमें सर्प कल्पित होता है। ऐसा जानता हुआ भी मुनि विषयों ममता करता है, यह बड़े ही अचरजकी बात है, क्योंकि-सीपीमें प्रतीत होनेवाले रजतको कल्पित मानकर भी उसमें ममता करना मूर्खता ही है ॥ ५ ॥

आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः।
आश्चर्यं कामवशगो विकलःकेलिशिक्षया ॥ ६ ॥

हे जनक! परम अद्वैत अर्थात् सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्य ब्रह्ममें साक्षात्कारवाला तथा मोक्षार्थ कहिये सच्चिदानन्द ब्रह्ममें विश्वासवाला पुरुष भी यदि कामवश होकर नाना प्रकारकी विषय-क्रीड़ाकी शिक्षामें विकल होता देखा जाय, यह तो बड़ा ही अचरज है?

उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रमवधार्यातिदुर्बलः।
आश्चर्यं काममाकांक्षेत्कालमन्तमनुश्रितः ॥ ७ ॥

उद्भूत कहिये उत्पन्न होनेवाला जो काम है वह ज्ञान का नाश करनेवाला महाशत्रु है, ऐसा विचार कर भी तू ज्ञानी अतिदीन होकर विषयभोगकी इच्छा करे तो यह बड़े ही अचरज की बात है, क्योंकि-जो पुरुष विषयवासनामें लवलीन होता है वह कालका ग्रास होता है अर्थात् क्षणमात्रमें नष्ट होजाता है, इसकारण जैसे मृत्युका ग्रास बनते हुए मुमूर्षु पुरुषको समीपमें वर्त्तमान भी विषयोंको भोगनेकी इच्छा नहीं होती है तैसे ही ज्ञानी पुरुष को भी विषयभोगकी तृष्णा नहीं रखनी चाहिये ॥ ७ ॥

इहामुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः ।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका ॥८॥

जिसको इस लोक और परलोक के भोगसुखसे विराग होगया और आत्मा नित्य है तथा शरीर आदि सब अनित्य हैं ऐसा जिसको ज्ञान होगया है तथा सच्चिदानन्द ब्रह्मकी प्राप्तिरूप मोक्ष की जिसको बड़ीभारी कामना है, उस पुरुषको भी यदि यह भय हो कि—हाय देह स्त्री पुत्र धन आदि से मेरा कहीं वियोग न होजाय ? तब तो यह बड़े ही आश्चर्य की बात है ! क्योंकि—स्वप्न में अनेकों प्रकार के सुख देखने पर भी जब जागजाने पर वह सुख नहीं रहते हैं तो उनके लिये कोई भी शोक नहीं करता है, इसीप्रकार इस स्वप्नसमान कुछ समयको प्रतीत होनेवाले संसारके स्त्री पुत्र धन आदि असत् पदार्थोंका वियोग होने पर विचारवान् पुरुषको शोक नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥

धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि सर्वदा ।
आत्मानं केवलं पश्यन्न तुष्यति न कुप्यति ॥९॥

ज्ञानी को शोक और हर्ष भी नहीं करने चाहियें, इस बातका उपदेश देते हुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—हे जनक ! ज्ञानी पुरुष को कोई संसारके पुण्यवान् पुरुष नाना प्रकारके भोग करावें तो वह उससे सन्तोष नहीं मानता है और यदि कोई पापी पुरुष उसको निरन्तर पीड़ा दें तो उससे वह कोप नहीं करता है, क्योंकि—वह तो आत्मा को सुखदुःखके भोगसे रहित असङ्ग देखता है अर्थात् उसको निश्चय होता है, कि—आत्माको कभी हर्ष शोकहोही नहीं सकता ॥ ९ ॥

चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत् ।
संस्तवे चापि निन्दायां कथं क्षुभ्येन्महाशयः ॥१०॥

ज्ञानी पुरुष चेष्टा करनेवाले अपने शरीरको, दूसरे पुरुषके शरीर की समान आत्मासे भिन्न देखता है, फिर वह महात्मा स्तुतिसे हर्ष को और निन्दासे शोकको कैसे प्राप्त होसकता है ? कभी नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि—हर्ष शोक के हेतु निन्दा स्तुति आदि तो शरीर के धर्म हैं और शरीर आत्मासे जुदा है, फिर ज्ञानी को हर्ष शोक कैसा ? ॥ १० ॥

मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगतकौतुकः ।
अपि संनिहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः ॥ ११ ॥

यह दीखनेवाला विश्व मायामात्र कहिये बाजीगरके तमाशेकी समान मिथ्यारूप है, जो ज्ञानी ऐसा देखता है वह फिर यह विचार नहीं करता, कि-यह शरीर आदि कहाँ से उत्पन्न होते हैं और कहाँ लीन होजाते हैं। ऐसा विचार करनेवाला जो ज्ञानी अपने स्वरूपमें अचल रहता है वह मृत्युके समीप आने पर भी भयभीत नहीं होता है॥

निःस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः ।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते ॥ १२ ॥

जिस महात्मा का मन मोक्षकी अभिलाषा तक नहीं रखता है,जिस का मन संसार का कोई पदार्थ मिलने पर हर्ष नहीं मानता और न मिलने पर शोक नहीं मानता, किन्तु मैं ब्रह्मरूप हूँ, ऐसे ज्ञानको पाकर जो अपनेको सकल मनोरथ पाया हुआ और परमतृप्त मानता है, ऐसे ज्ञानीकी किससे तुलना कीजाय? अर्थात् ज्ञानीकी तुल्य कोई नहीं होसकता ॥ १२ ॥

स्वभावादेव जानाति दृश्यमेतन्न किञ्चन ।
इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः ॥ १३ ॥

स्वभावसे ही अर्थात् अपनी सत्तासे ही जैसे सीपीमें रजत दृश्य (दीखनेवाला) भी है और मिथ्या भी है, तैसे ही यह द्वैतप्रपञ्च भी दृश्य (दीखनेवाला) होकर भी मिथ्या है। इस अनुमानके द्वारा जिस ज्ञानी कहिये यह जगत् न सत् है,न असत् है ऐसा जाननेवाले विवेकी पुरुषकी बुद्धि धीरजवाली होजाती है, वह क्या फिर यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है और यह वस्तु त्यागने योग्य है। ऐसी दृष्टि रखता है? अर्थात् जो ज्ञानी है वह ऐसी दृष्टि कभी नहीं रखता ॥ १३ ॥

अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः ।
यदृच्छयागतो भोगो न दुःखाय च तुष्टये ॥ १४ ॥

जिस विद्वान्ने अन्तःकरण के राग द्वेष आदि मलोंको त्याग दिया है और जो शीत उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे रहित अर्थात् शीत उष्ण आदि के कारण होनेवाले सुखदुःखोंसे रहित है तथा जिसकी सकल विषय

वासना नष्ट होगयी हैं ऐसे ज्ञानी पुरुषको दैवयोगसे भोग प्राप्त होजा
तो उसको प्रसन्नता नहीं होती और यदि भोग प्राप्त न हों तो उस
शोक नहीं होता ॥ १४ ॥

तृतीय प्रकरण समाप्त

हंतात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया ।
न हि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानता ॥ १ ।

ऊपर तीसरे प्रकरणमें अष्टावक्रजीने शिष्यकी परीक्षा लेनेके लि
प्रश्न किये अब उसके उत्तरमें शिष्य कहता है, कि-ज्ञानी सक
व्यवहारोंको मिथ्या जानता है और प्रारब्ध के अनुकूल जो नानाप्रक
के भोग प्राप्त होते हैं उनको आत्मविलास मानता है । बड़े आनन्द
बात है, कि-जो आत्मज्ञानी अपने आत्माको संपूर्ण जगत्का अधिष्ठ
जानता है वही धैर्यवान् है, अर्थात् उसका चित्त विषयों में आस
नहीं होता है । प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए विषयोंकी क्रीडामें रम
करनेवाले उस ज्ञानी की संसारमें देहाभिमान करनेवाले मूर्खोंके सा
तुल्यता नहीं होती है । यही बात भगवान्ने भी गीतामें कही है, कि
" तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः । गुणा गुणेषु वर्तन्त इ
मत्वा न सज्जते ॥" अर्थात्-आत्मज्ञानी सब व्यवहारों में रहता
परन्तु किसी कार्यके कर्त्तापनेका अभिमान नहीं करता है, क्योंकि
वह जानता है, कि-इन्द्रियें अपने २ विषयोंमें प्रवृत्त होती है, मैं
इनका साक्षी हूँ, इनके भोगसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ १ ॥

यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः ।
अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति ॥ २ ।

यहां शङ्का होती है, सांसारिक व्यवहार वर्त्तनेवाला ज्ञानी संसा
पुरुषकी समान क्यों नहीं होता है ? इसके उत्तरमें कहते हैं,
हे गुरो ! इन्द्र आदि सकल देवता जिस आत्मपदको पानेकी इ
करते हुए बड़ी दीनताको प्राप्त होते हैं । तिस सच्चिदानन्दस्व
आत्मापदके विषें स्थित अर्थात् तत् त्वम् पदार्थके अभेदज्ञानसे आ
पदमें स्थित आत्मज्ञानी विषयभोगकी प्राप्ति होनेसे सुख नहीं मा
है और विषय प्राप्त न हों या प्राप्त हुए विषय नष्ट होजायँ तो शो
नहीं करता है, क्योंकि-वह तो सबसे उत्तम आत्मसुखको पागया है

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो ह्यन्तर्न जायते ।

न ह्याकाशस्य धूमेन दृश्यमानापि सङ्गतिः ॥३॥

आत्मज्ञानी पुण्य और पापसे भी लिप्त नहीं होता है, क्योंकि—तत्-त्वम्—पदार्थकी एकताको जाननेवाले तत्त्वज्ञानीका, अन्तःकरण के धर्म जो पाप पुण्य उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता है, वह वेदमें कहे हुए विधि निषेधके बन्धनमें नहीं होता है, क्योंकि—जिसको आत्मज्ञान होजाता है उसके अन्तःकरणमें पाप पुण्यका सम्बन्ध नहीं होता है, जैसे धुआं आकाशमें जाता है परन्तु उसका आकाशसे कुछ सम्बन्ध नहीं होता है, तैसे ही पाप पुण्यका आत्मज्ञानीके साथ कुछ संबन्ध नहीं होता है ॥ ३ ॥

आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना ।
यदृच्छया वर्त्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः ॥ ४ ॥

यहाँ शङ्का होती है, कि—जब ज्ञानी कर्म करता है तो उसको पाप पुण्यका सम्बन्ध न हो, यह कैसे सम्भव होसकता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं, कि—जिस ज्ञानी महात्माने 'यह दीखनेवाला सब जगत् आत्मा ही है' ऐसा जानलिया है और फिर प्रारब्धकर्म के वशमें होकर वर्त्ताव करता है, उस ज्ञानीको कौन रोकसकता है ? (कौन बन्धनमें डाल सकता है ?) अर्थात् वेदके विधि निषेध वाक्य उसको बन्धनमें नहीं डालसकते । भगवान् शङ्कराचार्यजीने शारीरकभाष्यमें लिखा है, कि—" अविद्यावद्विषयो वेदः " जिनके ऊपर अविद्या छारही है अर्थात् जिन्होंने मायाके परदेको नहीं फाड़डाला है उनके लिये ही वेदके विधिनिषेध वाक्य हैं, ज्ञानीके ऊपर विधिनिषेधकी आज्ञा नहीं चलती । " प्रबोधनीय एवासौ सुप्तो राजेव बन्दिभिः " अर्थात् जैसे बन्दीजन सोयेहुए राजाके गुणोंका बखान करके उसको जगाते हैं तैसेही वेदके विधिनिषेध अविद्याके वशमें पड़ेहुए आत्माको ज्ञानप्राप्ति के लिये चितौनी देते हैं, और जब ज्ञान प्राप्त होजाता है तब उसको विधिनिषेध की आज्ञाका पालन करने की कुछ आवश्यकता नहीं रहती और यदि वह लोकशिक्षार्थ कर्मानुष्ठान करै भी तो उसको पाप पुण्य लग नहीं सकते ॥ ४ ॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे ।
विज्ञस्यैव हि सामर्थ्यमिच्छानिच्छाविवर्जने ॥५॥

यहां यह जिज्ञासा होती है, कि—ज्ञानी अपनी इच्छाके अनुसार

वर्त्ताव करता है या दैवकी प्रेरणासे ? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि ब्रह्मासे लेकर तृण पर्यन्त चार प्रकारके प्राणियोंसे भरेहुए ब्रह्माण्ड इच्छा और अनिच्छाको हटानेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है, परन्तु ज्ञानीमें ऐसी शक्ति होती है, कि—वह इच्छा और अनिच्छाको हटा देता है, इसलिये यदृच्छया भोगोंमें वा कर्मोंमें प्रवृत्त हुआ भी ज्ञानी विधिनिषेधका दास नहीं होसकता । शुकदेवजीने भी कहा है कि "भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापौ विशीर्णौ मायामोहौ क्षयमुपगतौ नष्टसन्देहवृत्तेः । शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ॥" अर्थात् जिस विद्वान्के आत्म ज्ञानके प्रभावसे भेद और अभेद यह दोनों वृत्तियें शीघ्र ही नष्ट होगयी हैं, पाप और पुण्य छिन्न भिन्न होगये हैं, माया और मायाका कार्य मोह यह दोनों नष्ट होगये हैं, जिसको किसीप्रकार का सन्देह नहीं रहा है, जो शब्द आदि विषय और तीनों गुणोंके पार होगया है तथा तत्त्वज्ञानको प्राप्त होकर त्रिगुणरहित ब्रह्ममार्गमें विचरता है, उस के लिये विधि या निषेध कुछ नहीं है ॥ ५ ॥

आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम् ।
यद्वेत्ति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित् ॥ ६ ॥

अद्वैत ज्ञान से द्वैतका बाध होजाता है, उस दशामें भयका कारण अज्ञान न रहनेसे ज्ञानी निर्भय होजाता है, परन्तु ऐसे अद्वितीय आत्म स्वरूपको सहस्रोंमें कोई एकाध ही जानता है, यह अद्वितीय आत्म स्वरूपका ज्ञान होजाने पर ज्ञानी कुछ कर्म करै चाहे न करै उसको इस लोक तथा परलोकमें कुछ भी भय नहीं रहता है ॥ ६ ॥

चतुर्थ प्रकरण समाप्त

न ते संगोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि ।
संघातविलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज ॥ १ ॥

शिष्यको पीछे जो उपदेश दिया था, उसकी दृढ़ताके लिये अष्टावक्र चार श्लोकोंमे लयका उपदेश देते हैं, कि–हे शिष्य ! तू शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वरूप है, 'यह देह आदि मैं हूँ और यह घर द्वार आदि मेरे हैं' ऐसा अहङ्कार और ममतारूप सङ्ग तेरा (आत्मा का) किसी के साथ भी नहीं है, फिर तू किसको त्यागना चाहेगा और किसको ग्रहण

करना चाहेगा? अर्थात् तेरे (आत्माके) ग्रहण करनेयोग्य और त्यागने योग्य कोई पदार्थ है ही नहीं, इस कारण तू संघात कहिये देहादि जड़ पदार्थोंका लय करता हुआ अर्थात् मैं देहादि रूप हूँ और गेहादि पदार्थ मेरे हैं ऐसे अहङ्कार और ममताको त्यागकर आत्मस्वरूप में लीन होजा ॥ १ ॥

उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज ॥ २ ॥

जैसे समुद्रमें अनेकों बुद्बुदे और तरङ्ग उत्पन्न होते हैं तथा उसमें ही लीन होजाते हैं और उस समुद्रसे भिन्न नहीं होते हैं तैसे ही यह जगत् तुझ (आत्मा) से उत्पन्न हुआ है, इसलिये आत्मा से भिन्न नहीं है, सर्वत्र एक आत्माका ही विस्तार है, ऐसा जानकर तू आत्मस्वरूप में लीन होजा ॥ २ ॥

प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद्विश्वं नास्त्यमले त्वयि।
रज्जुसर्प इव व्यक्तमेवमेव लयं व्रज ॥ ३ ॥

जब प्रत्यक्ष रज्जु सर्प आदिके भेदको देखते हैं तो फिर उनका लय कैसे होसकता है? इसका उत्तर देतेहुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि— जो प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय होता है, शास्त्रसे उसका भी बाध होजाता है, जैसे चन्द्रमाका मण्डल प्रत्यक्ष प्रमाणसे एक बिलस्तभरका दीखता है, परन्तु गणितज्योतिषमें वह हजारों योजनका लिखा है, इसकारण वह बिलस्तभरका नहीं मानाजाता, ऐसे ही प्रत्यक्ष दीखनेवाला यह जगत् तुझ निर्मल आत्मामें कभी है ही नहीं, ऐसा चिन्तवन करता हुआ तू आत्मस्वरूपमें लीन होजा ॥ ३ ॥

समदुःखसुखः पूर्ण आशानैराश्ययोः समः।
समजीवितमृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज ॥ ४ ॥

हे जनक! तू आत्मानन्दसे परिपूर्ण है, इसकारण ही प्रारब्धवश प्राप्त हुए सुख और दुःखको तू एकसी दृष्टि से देखता है तथा आशा और निराशा में भी तू समदृष्टि रहता है तथा मरण और जीवन को भी तू एकसमान मानता है, ऐसी ही दृष्टि रखता हुआ तू आत्मस्वरूप में लीन होजा ॥ ४ ॥

पञ्चम प्रकरण समाप्त।

आकाशवदनन्तोऽहं घटवत्प्राकृतं जगत् ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥१॥

इसप्रकार पाँचवें प्रकरणमें लयका उपदेश सुनकर राजाने क[हा]
कि—हे गुरो ! आत्मा तो अनन्त है फिर उसका देह आदिके वि[षें]
निवास करना कैसे बनसकता है ? क्योंकि—बड़ी वस्तु छोटी वस्तु[के]
भीतर नहीं आसकती है । इसका उत्तर देतेहुए अष्टावक्रजी कहते [हैं]
कि—हे राजन् ! यह आत्मा आकाशकी समान अनन्तस्वरूप है औ[र]
प्रकृतिका कार्य यह जगत् घटकी समान आत्माका अवच्छेदक औ[र]
निवासस्थान है अर्थात् जैसे आकाश घट मठ आदि में निर्लिप्तभाव[से]
व्याप्त होता है तैसेही आत्मा देहके विषें व्याप्त है, यह ज्ञान ही वेदान्त
शास्त्रके अनुकूल और अनुभवसे सिद्ध है, इसकारण वह आत्मा [न]
कुछ ग्रहण करता है, न कुछ त्यागता है और न उसका क[भी]
लय ही होता है ॥१॥

महोदधिरिवाहं स प्रपञ्चो वीचिसन्निभः ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥२॥

राजाने कहा, कि—हे गुरो ! घट और आकाशके दृष्टान्तसे तो दे[ह]
और आत्माका भेद सिद्ध होकर द्वैत सिद्ध होगया, अद्वैत आत्मा तो
सिद्ध नहीं हुआ ? इसके उत्तरमें अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—हे शिष्य !
मैं (आत्मा) महासागरकी समान हूँ और यह देह गेह आदि स[ब]
प्रपञ्च उसकी तरङ्गोंकी समान है, यह ज्ञान अनुभवसिद्ध है, इ[स]
कारण आत्माका त्याग, ग्रहण और लय होना नहीं बनता ॥ २ ॥

अहं स शुक्तिसङ्काशो रूप्यवद्विश्वकल्पना ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥३॥

राजाने कहा, कि—हे गुरो ! जैसे सब तरङ्गें समुद्रका विकार [हैं]
और समुद्र विकारी है क्या इसीप्रकार यह प्रपञ्च आत्माका विका[र]
और आत्मा विकारी है ? समुद्र तरङ्ग के दृष्टान्त से तो यही सि[द्ध]
होता है ? इसका उत्तर देतेहुए कहते हैं, कि—हे शिष्य ! विका[र]
विकारीभाव तो अवयवोंवाले पदार्थोंमें होते हैं, निरवयव पदार्थों[में]
नहीं होते हैं । जैसे सीपी सत्यरूप होती है और उसमें कल्पित चांदी
मिथ्यारूप होती है, तैसेही देह आदि सब प्रपञ्चका अधिष्ठान [है]

(आत्मा) सत्यरूप हूँ और मुझमें कल्पित यह प्रपञ्च मिथ्या है, आत्माका त्याग, ग्रहण वा लय नहीं होता है ॥ ३ ॥

अहम्वा सर्वभूतेषु सर्वभूतानि वा मयि ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥४॥

राजाने कहा, कि-रजत और सीपीके दृष्टान्तसे तो आत्मामें परिच्छिन्नता कहिये एकदेशीपनेका दोष आता है, जैसे सीपी एकदेशी है क्या ऐसे ही आत्मा भी एकदेशी है ? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि—हे जनक! मैं वस्त्रमें सूतकी समान सब प्राणियोंमें अधिष्ठानरूप होकर स्फूर्ति देता रहता हूँ। यह सब प्रपञ्च आकाशमें नीलेपनकी समान मुझमें ही विद्यमान (अध्यस्त) है । इसप्रकारका वेदान्त वाक्योंसे सिद्ध अनुभव आत्माके अद्वैत होनेमें प्रमाण है और जब आत्मा ऐसा है तो उसमें त्याग, ग्रहण वा लयचिन्तनादिक नहीं बनते ॥ ४ ॥

षष्ठ प्रकरण समाप्त।

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः ।
भ्रमति स्वान्तवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता ॥१॥

पञ्चम प्रकरणमें यह उपदेश दिया था, कि—लययोगका आश्रय लिये बिना सांसारिक व्यवहारके विक्षेप कभी दूर नहीं होंगे, और छठे प्रकरणमें शिष्यके प्रश्न करनेपर कहा कि—आत्माका त्याग, ग्रहण और लय आदि होता ही नहीं, अब इसका ही विवेचन करतेहुए कहते हैं, कि—यदि लय विक्षेप आदि बने भी रहें तो उसमें मेरी कुछ हानि नहीं है, अनन्त महासागररूप मुझ (आत्मा)में यह संसाररूप जहाज मनरूप पवनके वेगसे चारों ओर घूमरहा है, उस संसार जहाज के भ्रमणसे महासागरकी समान मैं कुछ भी चलायमान नहीं होता हूँ ॥ १ ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः ।
उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न च क्षतिः ॥२॥

ऊपरके श्लोकमें यह दिखाया कि—संसारके व्यवहारोंसे आत्मा को कुछ हानि लाभ नहीं होता है अब यह दिखाते हैं, कि—जगतकी उत्पत्ति आदिसे भी आत्मा की कुछ हानि नहीं होती है। मुझ चैतन्य

मय अनन्त महासागर (आत्मा) में स्वभावसे ही संसाररूप लहरें उत्पन्न होती हैं और नष्ट होजाती हैं। उनके उत्पन्न होनेसे आत्माको कुछ लाभ नहीं होता और अस्त होनेसे आत्माकी कुछ हानि नहीं होती, जैसे कि—समुद्रमें तरङ्गें उत्पन्न हों तो उनसे समुद्र की कुछ वृद्धि नहीं होती और अस्त होजायँ तो कुछ हानि नहीं होती ॥ २ ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वं नाम विकल्पना ।
अतिशान्तो निराकार एतदेवाहमास्थितः ॥ ३ ॥

समुद्र और तरङ्गोंके दृष्टान्तसे कहीं यह न सिद्ध होजाय कि-जैसे तरङ्गें समुद्रका विकार होती हैं तैसे ही यह जगत् भी आत्माका विकार है, इसलिये कहते हैं, कि—मुझ अनन्त महासागररूप आत्मा में जो जगत्की कल्पना है सो भ्रममात्र है, सत्य नहीं है, इसकारण ही मैं शान्त कहिये सकल विकारोंसे रहित और निराकार तथा केवल आत्मस्वरूपका आश्रय कियेहुए हूँ ॥ ३ ॥

नात्मा भावेषु नो भावास्तत्रानन्ते निरञ्जने ।
इत्यसक्तोऽस्पृहः शान्त एतदेवाहमास्थितः ॥ ४ ॥

आत्मा देहादिभावोंमें आश्रितरूपसे नहीं रहता है, क्योंकि-आत्मा व्यापक है, देहादि सब परिच्छिन्न हैं, व्यापक पदार्थ परिच्छिन्नमें आश्रित नहीं हुआ करता है और आत्मा निराकार है इसकारण देहादिकों की उपाधि भी नहीं होसकता है, क्योंकि-आत्मा सत्य है देह आदि सब पदार्थ मिथ्या हैं, सत्य वस्तु मिथ्या वस्तुकी उपाधि नहीं होसकती और देह इन्द्रिय आदि भी आत्माकी उपाधि नहीं होसकते, क्योंकि—आत्मा अनन्त और निरञ्जन है तथा देह आदि अन्त वाले तथा नाशवान् हैं, इसकारण ही आत्मा इच्छारहित, शान्त और आत्मस्वरूपका आश्रय कियेहुए है ॥ ४ ॥

अहो चिन्मात्रमेवाहमिन्द्रजालोपमं जगत् ।
अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥ ५ ॥

ज्ञानीमें इच्छा आदि स्वयं नहीं होते हैं, इस बातका हेतु दिखाते हैं कि—अहो ! मैं (आत्मा) अलौकिक चैतन्यमात्र हूँ और यह सब विश्व इन्द्रजाल कहिये बाजीगरके तमाशेकी समान है अर्थात् अपनी सत्तासे रहित केवल मेरी सत्तासे ही प्रतीत होरहा है, क्योंकि—

जगत्की अपनी सत्ता तो कुछ है ही नहीं, इसकारण मुझे किसी पदार्थमें भी किसी प्रकार भी त्याग और ग्रहण करनेकी बुद्धि नहीं होती है, जो पुरुष जगत्के पदार्थोंको सत्य मानता है उसकी ही ग्रहण और त्याग की बुद्धि होती है ॥ ५ ॥

सप्तम प्रकरण समाप्त ।

तदा बन्धो यदा चित्तं किञ्चिद्वाञ्छति शोचति ।
किञ्चिन्मुञ्चति गृह्णाति किञ्चिद्धृष्यति कुप्यति॥१॥

यहां तक सात प्रकरणोंमें अष्टावक्रजीने राजा जनकके अनुभवकी परीक्षा ली, अब इस प्रकरणमें उसके अनुभवकी प्रशंसा करतेहुए कहते हैं, कि—हे शिष्य ! तूने जो कहा, कि—मुझे (आत्माको) कुछ त्याग करना वा ग्रहण करना नहीं है, सो ठीक है, क्योंकि-जब चित्त विषयोंका अभिलाषी होकर किसी पदार्थको पानेकी इच्छा करता है, उसके न मिलने पर शोक करता है और उससे कष्ट होने पर उसको त्यागना चाहता है। चित्तमें लोभ होने पर किसी वस्तुको ग्रहण करने की इच्छा करता है तथा उसके मिलजाने पर प्रसन्न होता है और उसको कोई छीनलेय तो कोप करता है इससे ही जीवको बन्धन होता है।तात्पर्य यह है,कि-अनेकों प्रकारकी वासनायें ही बन्धनमें डालनेवाली हैं, जबतक चित्तमें वासना भरी हैं तबतक मुक्ति नहीं होसकती। यहां शङ्का होती है कि-ऐसा वासनाशून्य तो संसारमें कोई पुरुष भी नहीं दीखता क्योंकि-सब ही गृहस्थियोंके चित्तोंमें स्त्री पुत्र धन आदि की वासनायें भरी हुई हैं। जो परमात्माका भजन और दान आदि करते हैं,उनके चित्तमें भी यह कामना रहती है, कि-मेरे अन्न धन परिवार आदि सदा बने रहें। जो त्यागी साधु महात्मा कहलाते हैं, उनके चित्तोंमें भी अनकों कामना भरी रहती हैं। कोई मठ बनवाते हैं, कोई चेले बढ़ाते हैं कोई हाथी घोड़े और शस्त्र रखते हैं, उनमें भी वासना-रहित कोई नहीं दीखता, यदि वासना न हों तो प्रपञ्च क्यों फैलावें, इस दशामें कोई भी ज्ञानी सिद्ध नहीं होता, जब कोई ज्ञानी ही नहीं तो मुक्ति किस की होगी ?। इसके उत्तरमें कहते हैं, कि—जैसे वन में गीदड़ सियार आदि असंख्यों रहते हैं, परन्तु सिंह एकाध ही होता है, ऐसे ही गृहस्थाश्रम वा संन्यस्ताश्रमरूप संसारवनमें वासनासे भरेहुए अनेकों मनुष्य रहते हैं परन्तु निर्वासन ज्ञानी कोई विरला ही होता है। जैसे सिंहके मारेहुए शिकारको गीदड़ सियार आदि खाते

हैं तैसे ही वञ्चक संन्यासी या पाखंडी गृहस्थ वासनाशून्य विरक्त पुरुषोंके चिन्होंको धारण करके अर्थात् ज्ञानियोंकी सी बातें सुनाकर मनुष्योंको ठगते हैं, वे ही संसारवनके सियार गीदड़ आदि हैं, एक ग्रामके चमारोंने विचार किया कि—चलें क्षत्रियोंके गांवको लूटलावें और वह रातमें इकट्ठे होकर चोरी करनेगये,जब क्षत्रिय तलवारें ले लेकर मारनेको दौड़े तो उलटे भागे और कोई हमें चोर न समझे इस लिये आप भी कहनेलगे, कि-"मारो ! मारो !" ऐसे ही बहुतसे बनावटी ज्ञानी ज्ञानके साधनोंसे तो भागते हैं, परन्तु अपनेको कोई पाखण्डी न समझे, इसलिये दूसरोंसे कहते हैं, कि-"वासनाओंको छोड़ो, विवेकी बनो" । ऐसे पाखण्डी पुरुष ज्ञानी नहीं होसकते, वह तो वासनाओं के कारण बन्धनमें ही पड़ते हैं ॥ १ ॥

तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वाञ्छति न शोचति ।
न मुञ्चति न गृह्णाति न हृष्यति न कुप्यति ॥ २ ॥

जब चित्त भोगोंको पानेकी इच्छा नहीं करता है, भोग न मिलने पर शोक नहीं करता है, प्रारब्ध वश प्राप्त हुए पदार्थका त्याग नहीं करता है और नयी इच्छा उत्पन्न करके किसी वस्तुको ग्रहण नहीं करता है, कोई अनुकूल वस्तु मिलजाय तो उसका हर्ष नहीं मनाता है और कारण होने पर भी कोप नहीं करता है अर्थात् निरन्तर एकरस रहता है तब ही जीवकी मुक्ति होती है ॥ २ ॥

तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु ।
तदा मोक्षो यदा चित्तमसक्तं सर्वदृष्टिषु ॥ ३ ॥

जब जीवका चित्त आत्मभिन्न किन्हीं भी जड़ पदार्थों में आसक्त होता है तब ही वह बन्धन में होता है तथा जब जीवका चित्त आत्मा के सिवाय सकल जड़ पदार्थों में आसक्तिरहित होता है तब ही उसका मोक्ष होता है ॥ ३ ॥

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा ।
मत्वेति हेलया किञ्चिन्मा गृहाण विमुञ्च मा ॥ ४ ॥

जबतक जीव में 'मैं ज्ञानी हूँ, मैं धनी हूँ, इत्यादि अहङ्कार है, तब तक बन्धन ही है, मुक्ति कदापि नहीं होसकती, और जब मैं देह नहीं हूँ, इसप्रकार निरभिमान भाव आजाता है तब ही मोक्ष होता है,

विषयभोगकी आसक्ति दूर होने पर भी यदि अहङ्कार बना रहा तो बन्धन ही है, ऐसा जानकर अहंभाव से न किसी वस्तुको ग्रहण कर और न किसी वस्तुको त्याग, तब तू मुक्त होजायगा ॥ ४ ॥

अष्टम प्रकरण समाप्त.

कृताकृते च द्वन्द्वानि कदा शान्तानि कस्य वा ।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भव त्यागपरोऽव्रती ॥ १ ॥

अब आसक्तिके त्यागरूप वैराग्यका स्वरूप दिखाते हुए कहते हैं कि—यह मैंने करलिया और यह मैंने नहीं किया, इत्यादि अभिनिवेश और सुख दुःख शीत उष्ण आदि द्वन्द्व बताओ कब किसके शान्त हुए हैं ? अर्थात् इनका शान्त होना बड़ा ही कठिन है, ऐसा जानकर हे राजन् ! इन कृत अकृत आदिके त्याग से भी तू वैराग्यको प्राप्त हो क्योंकि—तू तो अव्रती कहिये संपूर्ण पदार्थों में आग्रह त्यागने वाला आनन्दस्वरूप है ॥ १ ॥

कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात् ।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गता ॥ २ ॥

चित्तके धर्मोंका त्यागरूप वैराग्य किसी विरले को ही होता है, सबको नहीं होता, इस बातका उपदेश देते हुए अष्टावक्रजी कहते हैं कि-हे बेटा जनक ! सहस्रों पुरुषों में से किसी एक भाग्यशाली पुरुष के ही चित्तमें संसार की चेष्टाओंको देखने से वैराग्य होता है। संसार में प्रत्येक प्राणीको अनेकों दुःख शोक और मरण आदिकी घटनाओं को देखकर न उसको अधिक जीनेकी इच्छा रहती है, न स्वादु पदार्थों को खानेकी चाहना रहती है, भोगोंसे भी उसका चित्त उकताने लगता है और फिर वह संसार के विषयमें अधिक ज्ञान प्राप्त करना भी नहीं चाहता है। तात्पर्य यह है,कि-संसारके पदार्थोंमें ग्लानि और दोषदृष्टिका नाम ही वैराग्य है, संसारमें उत्पन्न होकर नष्ट होजाने वाले जितने भी पदार्थ हैं सबोंमें दोष लगे हुए हैं। स्त्री, पुत्र, धन, शरीर इन्द्रिय आदि सबको प्यारे हैं, इनको सुख पहुँचानेके लिये मनुष्य अनेकों अनर्थ करडालता है और वे ही सब इस जीवको बन्धन में डालते हैं, जबतक इनसे वैराग्य नहीं होगा तबतक जीवकी कभी मुक्ति नहीं होसकती, इस लिये ही संसार की चेष्टाओं को देखनेसे वैराग्य की प्राप्ति कही है। देखो-महादुर्गन्धिसे भरा जो माताका उदर है,जिस

में कि जठराग्नि धधक रही है, उसमें जाकर जीवको जो कष्ट होता
वह वास्तवमें कुम्भीपाक नरकका छोटा भाई है । शिवगीतामें मर
के दुःखका वर्णन करते हुए कहा है, कि जब पुरुष मरने लगता
तब, जैसे साँपका आधा निगला हुआ मेंडक टर २ शब्द करता
तैसे ही मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ पुरुष कहता है, कि-हे पुत्र ! हे
हे माता ! हे पिताजी ! मुझे बचाओ, मेरा इकट्ठा किया हुआ धन वै
को देकर मुझे मृतसञ्जीवनी दिलवाओ । मरणकालमें जीवको ए
ओर तो काल अपनी फाँसीमें बांधकर खैंचता है, और दूसरी ओर कु
म्बियों के स्नेहकी फाँसी खैंचती है, परन्तु मृत्यु से कोई नहीं बचासकता
पहिले जन्ममें जो माता होती है वही पुत्रमें स्नेह होनेके कारण
अगले जन्ममें उसकी स्त्री बनती है, पहिले जन्मका पिता अगले ज
में पुत्र होजाता है, जो पहिले जन्ममें पुत्र होता है वह अगले जन्म
पिता होजाता है । जैसे सायङ्कालके समय चारों ओरके पत्ती इ
होकर एक पेड़पर बसेरा करते हैं और प्रातःकाल होते ही इधर उ
को उड़जाते हैं, तैसे ही इस संसाररूपी वृत्त पर अनेकों जीव अपने
कर्मों का फल भोगनेके लिये आकर इकट्ठे होते हैं और प्रारब्धक
का फलभोग पूरा होने पर एक २ करके सब चलेजाते हैं
स्त्री पुत्र धन आदि कोई किसी के साथ नहीं जाता है । औ
न कोई साथ आता है, ऐसा विचार कर इनमें से मोह को हटालेय
देवीभागवतमें स्त्री को ही पुरुषके बांधने की बेड़ीरूप कहा है । लो
की बेड़ीका बन्धन तो एक दिन दूर होजाता है परन्तु स्त्री के स्नेहक
बन्धनसे छूटना बड़ा कठिन है, इसकारण ही अष्टावक्रजी कहते हैं
कि-संसारमें लाखों मनुष्योंमें कोई भाग्यवान् विरला पुरुष ही विषय
वासनासे रहित होकर सच्चा विरक्त होसकता है ॥ २ ॥

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम् ।
असारं निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति ॥ ३ ॥

राजाने कहा कि-हे गुरो ! ज्ञानी पुरुषोंकी सकल विषयोंमें
आसक्तिके नष्ट होनेका क्या कारण है ? । अष्टावक्रजीने उत्तर दिया
कि-हे राजन् ! यह जो कुछ जगत् प्रपञ्च दीखरहा है सब अनित्य है
चेतनस्वरूप आत्मा की सत्तासे स्फुरित होता है, वास्तवमें अध्यस्त
कहिये कल्पनामात्र है । आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक
तीनों प्रकारके तापों से दूषित होरहा है अर्थात्-तुच्छ है, मिथ्या है
ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष संसारसे उदासीन होजाता है ॥ ३ ॥

कोऽसौ कालो वयः किम्वा यत्र द्वंद्वानि वै नृणाम् ।
तान्युपेक्ष्य यथाप्राप्तवर्त्ती सिद्धिमवाप्नुयात् ॥४॥

अब यह वर्णन करते हैं, कि—सुख दुःख आदि द्वन्द्व तो प्रारब्ध कर्म के अनुसार अवश्य ही प्राप्त होंगे, परन्तु तो भी उन सुख दुःख आदिके विषैं इच्छा और अनिच्छाको त्यागकर प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए सुख दुःख आदिको भोगता हुआ भी मुक्तिको प्राप्त होजाता है। ऐसा कौनसा काल है, कि—जिसमें मनुष्योंको सुख दुःख आदि प्राप्त नहीं होते ? और ऐसी कौनसी अवस्था है कि—जिसमें सुख दुःख आदि से छुटकारा हो ? अर्थात् सब काल और सब अवस्थाओंमें सुख दुःख तो होते ही हैं, ऐसा जानकर उन सुख दुःख आदिके विषैं सङ्कल्प विकल्पको त्यागनेवाला पुरुष प्रारब्ध कर्म के अनुसार प्राप्त हुए सुख दुःख आदिको आसक्तिरहितभावसे भोगकर सिद्धि कहिये मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

नानामतं महर्षीणां साधूनां योगिनान्तथा ।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः ॥५॥

तत्त्वज्ञानके सिवाय और किसी विषयमें भी निष्ठा न करै, इस बात का उपदेश देतेहुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—हे राजा जनक ! ऋषियोंके भिन्न२ प्रकारके अनेकों मत हैं। उनमें कोई अग्निहोत्र करने का उपदेश देते हैं, कोई मंत्रजप का उपदेश करते हैं, कोई चान्द्रायण आदि व्रतोंका माहात्म्य वर्णन करते हैं। ऐसे ही साधुओंके भी बहुत से मत हैं, कोई शिवकी भक्तिका उपदेश करते हैं, कोई विष्णुकी भक्तिको अच्छा बताते हैं, इत्यादि, इसीप्रकार योगियोंके भी अनेकों सम्प्रदाय हैं-कोई हठयोग करना कहते हैं और कोई तत्त्वोंकी गणना के द्वारा राजयोगका उपदेश देते हैं । ऐसे विवादोंको देख उन सबोंसे हटकर वैराग्यको प्राप्त हुआ कौनसा पुरुष शान्ति नहीं पाता है अर्थात् किसीभी सम्प्रदायका हठ न रखकर शुद्ध आत्मस्वरूप के विचारसे अवश्य ही शान्ति प्राप्त होजाती है ॥ ५ ॥

कृत्वा मूर्त्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किंगुरुः ।
निर्वेदसमतायुक्त्या यस्तारयति संसृतेः ॥ ६ ॥

निर्वेद कहिये विषयोंमें आसक्ति न करना और समता कहिये शत्रु

मित्र आदि प्राणीमात्र में समदृष्टि (आत्मदृष्टि) रखना तथा वेद शास्त्रोंके अनुकूल युक्तियोंसे शङ्काओंका समाधान करना इनके द्वारा सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार करके जो कर्ममार्गमें प्रवृत्त कराने वाले संसारी गुरुका आश्रय नहीं लेता है वह पुरुष अपने आत्मा को तथा दूसरों को भी संसारसे तारता है ॥ ६ ॥

पश्य भूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः।
तत्क्षणाद्बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि ॥७॥

हे तात जनक! भूतविकार कहिये पृथिवी आदि पञ्च महाभूतों के विकाररूप देह इन्द्रिय आदि को वास्तव में जड़ पञ्चमहाभूतमात्र देख आत्मस्वरूप न मान। यदि गुरुके उपदेश, श्रुतिके प्रमाण और अनुभव के द्वारा ऐसा निश्चय करलेगे तो तत्काल ही संसारबन्धन से मुक्त होकर शरीरादि से विलक्षण आत्मस्वरूप में स्थिति पाजाओगे। क्योंकि-यह शरीर आदि आत्मा से भिन्न और जड़ हैं, ऐसा निश्चय होने पर उन शरीर आदिका साक्षी जो आत्मा है उसका करामलकवत् साक्षात्कार होने लगता है ॥ ७ ॥

वासना एव संसार इति सर्वा विमुञ्च ताः।
तत्त्यागो वासनात्यागात्स्थितिरद्य यथा तथा ॥८॥

आत्मज्ञान होजानेपर भी उसमें निष्ठा होनेका उपाय बताते हुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—हे बेटा जनक! विषयोंमें वासना होना ही संसार है, इसकारण तू सकल वासनाओंको त्यागदे। वासनाओंके त्यागसे आत्मनिष्ठा होने पर भी संसार का त्याग अपने आप होजाता है और वासनाओं का त्याग होने पर भी संसार में शरीरकी स्थिति प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार रहती है ॥ ८ ॥

नवम प्रकरण समाप्त

विहाय वैरिणं काममर्थञ्चानर्थसंकुलम्।
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु ॥ १॥

नवम प्रकरणमें विषयोंके विना भी सन्तोषरूप से वैराग्यका वर्णन किया, अब विषयतृष्णाके त्याग का उपदेश देतेहुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—हे तात जनक! जीवको कर्मशृङ्खलामें बाँधकर जन्म मरण के घोर दुःख देनेवाला जो शत्रुरूप काम है उसको त्यागकर जिस को प्राप्त करने में रक्षा करने में तथा व्यय करनेमें महाकष्ट उठा

पड़ता है ऐसे सर्वथा दुःखों से भरे अर्थ कहिये धनका भी त्याग कर दे तथा इन काम और धनकी प्राप्ति के लिये किये जानेवाले धर्मको तथा सकाम कर्मोंको भी त्याग दे, क्योंकि—ये सब जीवन्मुक्तिमें बाधा डालने वाले हैं ॥ १ ॥

स्वप्नेन्द्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पञ्च वा ।
मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादिसम्पदः ॥ २ ॥

राजाने कहा, कि—हे गुरो ! अनेकों प्रकार के सुख देने वाले जो स्त्री पुत्र आदि तथा जो कर्म हैं, उन का निरादर के साथ त्याग कैसे किया जासकता है ? यह तो आपने बड़ी कठिन बात कही। इसके उत्तर में अष्टावक्रजी कहते हैं, कि-हे तात जनक ! स्त्री पुत्र, धन, मित्र, देह, गेह आदि जितने भी भोगके साधन हैं, इन सबोंको तुम स्वप्न और इन्द्रजाल कहिये बाजीगर के तमाशेकी समान देखो, क्योंकि—ये सब तीन वा पाँच दिन रहने वाले हैं अर्थात् इन के विषय में निश्चयरूप से यह भी नहीं कहाजासकता कि-यह एक सप्ताह भी रहेंगे यह तो देखते २ क्षणभरमें ही नष्ट होजाते हैं, इसकारण एक दिन अवश्य बिछुड़ने वाले इन अनित्य पदार्थों में ममता को त्यागदेना ही अच्छा है ॥ २ ॥

यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै ।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव ॥ ३ ॥

सकल सकाम कर्मों का अनादर करना रूप वैराग्य ही मोक्षप्राप्ति का कारण है, इस बातका उपदेश देते हुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि-हे जनक ! जिस २ विषयों में मनकी तृष्णा हो उस २ को ही तू संसार-(बन्धन) का हेतु जान, क्योंकि—विषयों की तृष्णा ही कर्मोंके द्वारा संसारमेंको धकेल देती है इसकारण दृढ़ वैराग्यको धारण करके वीततृष्ण कहिये अप्राप्त विषयों में इच्छारहित होताहुआ आत्मज्ञानकी निष्ठा से सुखी हो ॥ ३ ॥

तृष्णामात्रात्मको बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः ॥ ४ ॥

अष्टावक्रजीने कहा, कि-हे जनक ! तृष्णामात्र बड़ाभारी बन्धन है। जीवके दाँत टूट जाते हैं,केश पकजाते हैं,नेत्रों की ज्योति कम होजाती

है और पग २ पर चरण डगमगाते हैं तोभी तृष्णा इसकी ऐसी प्रं प्रता स्त्री बन गयी है कि—वह इसको छोड़ना ही नहीं चाहती । तृष्णा प्रतिष्ठा का नाश करदेती है, देखो त्रिलोकीके स्वामी विष्णु को तृष्णा ने वामन बना दिया, ऐसी तृष्णा को तो दूरसे ही प्रणाम करने चाहिये। तृष्णामात्र का त्याग ही मोक्ष कहलाता है, क्योंकि—संसार में आसक्तिको त्यागकर बारंबार आत्मविचारसे उत्पन्न हुआ सन्तो ही मोक्षका स्वरूप है ॥ ४ ॥

त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जडं विश्वमसत्तथा ।
अविद्यापि न किञ्चित्सा का बुभुत्सा तथापि ते ॥५॥

हे मुने ! यदि तृष्णामात्र ही बन्धन है तब तो आत्मप्राप्तिकी तृष्णा को भी बन्धन ही कहना पड़ेगा ? इसके उत्तरमें अष्टावक्रजी कहते कि-हे जनक ! इस जगत्में तीन पदार्थ हैं, एक आत्मा, दूसरी अविद्या तीसरा जगत् । तिनमें आत्मा स्थूल, सूक्ष्म कारण तीनों शरीरों भिन्न तथा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंका साक्षी, अद्वितीय चेतन और शुद्धस्वरूप है, तिस पूर्ण चेतनस्वरूप आत्माको जान की इच्छा (तृष्णा) बन्धन नहीं है, क्योंकि-आत्माभिन्न जड़ पदार्थ की इच्छा करना ही तृष्णा कहलाती है । जो अनादिभावरूप है जो आत्मज्ञानसे निवृत्त होजाता है वह अज्ञान ही अविद्या कहलाता जो सदैवकाल गमन करता रहे अर्थात् नदीके प्रवाहकी समान चल रहे वही जगत् है। इन दोनोंमें तृष्णा करनी मिथ्या है, क्योंकि-जगत् के विषै इच्छा करना वन्ध्यापुत्रकी समान मिथ्या है, ऐसी इच्छा कुछ सिद्धि नहीं होती है। ऐसे ही अविद्या (माया) को जानने इच्छा करना भी निरर्थक ही है, क्योंकि-माया सत् रूपसे वा असत् रूपसे कहनेमें नहीं आती है, ऐसे मिथ्या पदार्थोंमें अज्ञानी ही तृष्णा करता है, ज्ञानी नहीं करता है ॥ ५ ॥

राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च ।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि ॥६॥

अब संसारकी जड़रूपता और अनित्यता दिखाते हुए अष्टावक्र कहते हैं, कि-हे जनक ! राज्यभोग, पुत्र, स्त्री, शरीर और सुख तुम्हें अनेकों जन्मोंमें मिलते रहे हैं और जब तूने उनमें अत्यन्त प्रीति तब ही प्रत्येक जन्ममें नष्ट होते रहे हैं, पहिले जन्मोंमें जो तेरे थी

आदि थे वह अब नहीं हैं और जो इस जन्ममें हैं उनका आगे को कुछ भी पता नहीं मिलेगा, इससे सिद्ध होता है कि—सब संसार अनित्य या मिथ्या है, इसमें आसक्त होना विवेकीका काम नहीं है ६

अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा ।
एभ्यः संसारकान्तारे न विश्रान्तमभून्मनः॥ ७ ॥

हे जनक ! धन, काम और पुण्यकर्म करनेकी तृष्णाको भी त्याग देना चाहिये आनन्दस्वरूप आत्माके विचारमें मग्न रहना चाहिये, क्योंकि—संसाररूप दुर्गम वनमें घूमनेवाले पुरुषका मन इन धर्म, अर्थ, कामसे कभी भी विश्राम (शान्ति) नहीं पावेगा, इस दशामें संसार-बन्धनका नाश कदापि नहीं होगा ॥ ७ ॥

कृतन्न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा ।
दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम् ॥ ८ ॥

हे जनक ! शरीर, मन और इन्द्रियोंको परिश्रम तथा दुःख देनेवाला कर्म मन, शरीर और वाणीके द्वारा कौनसे जन्मोंमें नहीं किया अर्थात् जन्म जन्म में करता रहा है ! और उन अनेकों जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके फलसे दुःखदायक जन्ममरणरूप चक्रमें घूमता चला आरहा है, अब भी कर्मजालमें फँसकर प्रतिदिन अनेकों कष्टोंको ही भोगरहा है, इसकारण अब तो कर्मोंसे उपराम (शान्ति) को प्राप्त हो, नहीं तो मुक्ति कदापि न होगी ॥ ८ ॥

दशम प्रकरण समाप्त

भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी ।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति ॥ १ ॥

ऊपर कहीहुई शान्ति ज्ञानसे ही प्राप्त होती है और किसी साधनसे प्राप्त नहीं होती है, इसका उपदेश देनेके लिये ज्ञानका उपदेश देतेहुए अष्टावक्रजी पहिले ज्ञानके साधनोंका वर्णन करते हैं, कि-किसी वस्तु का उत्पन्न होना और किसी वस्तुका नष्ट होना यह जो भाव-अभाव-रूप विकार है सो स्वभाव कहिये माया और पुरातनसंस्कारके अनु-सार होता है, आत्मासे नहीं होता हैं, ऐसा निश्चय जिसको होजाता है वह पुरुष अनायासमें ही शान्तिको प्राप्त होजाता है ॥ १ ॥

ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी ।

अन्तर्गलितसर्वाशः शान्तः क्वापि न सज्जते॥२॥

राजाने कहा, कि-हे मुने ! माया तो जड़ है, उससे संसारकी उत्पत्ति कैसे होसकती है ? इसपर अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—हे जनक ! सम्पूर्ण जगत्को स्वतंत्र होकर रचनेवाला तो एक ईश्वर ही है और कोई जगत्को नहीं रचसकता, यह बात निश्चित है, क्योंकि—जीव स्वतन्त्र नहीं हैं, ईश्वरके अधीन हैं। ऐसा निश्चय करनेवाले पुरुषकी सब आशायें भीतर ही भीतर गलकर विलीन होजाती हैं और वह शान्त कहिये निश्चलचित्त होकर किसी भी विषयमें आसक्त नहीं होता है ॥ २ ॥

आपदः सम्पदः काले दैवादेवेति निश्चयी ।
तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं न वाञ्छति न शोचति ॥३॥

जनकने कहा, कि—हे—मुने ! यदि ईश्वर ही संसारको रचता है तो वह किन्हींको धनी और किन्हींको निर्धन, किन्हींको सुखी और किन्हींको दुःखी क्यों बनाता है ? ऐसा करनेसे तो उसमें वैषम्य (विषमदृष्टिपना रूप) और नैर्घृण्य (दयाशून्यपना रूप) दोष आवेंगे! इसके उत्तरमें अष्टावक्रजी कहते हैं, कि-हे राजन् ! कभी आपत्तियें और कभी विपत्तियें प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुआ करती हैं, ईश्वर किसीको सुख दुःख नहीं देता, इसकारण ईश्वर में नैर्घृण्य और वैषम्य दोष नहीं आसकता, ऐसे निश्चयवाला पुरुष, सकल भोगों की तृष्णासे रहित होता है तथा विषयोंसे चलायमान नहीं होती हैं, इन्द्रियें जिसकी ऐसा होकर अप्राप्त वस्तुकी कभी इच्छा नहीं करता है और प्राप्त हुई वस्तुका नाश होजानेपर कभी शोक नहीं करता है ॥ ३ ॥

सुखदुःखे जन्ममृत्यू दैवादेवेति निश्चयी ।
साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ४॥

राजाने कहा, कि—हे गुरो ! ऐसा निश्चय रखनेवाले ज्ञानी भी तो कर्म करते हुए देखे जाते हैं, उनको उसका फल भोगना पड़ेगा या नहीं ? इसका उत्तर देतेहुए अष्टावक्रजीने कहा, कि—जो वास्तवमें ज्ञानी हैं ओर लोकशिक्षाके लिये निष्कामभावसे कर्म करते हैं उनको कर्मका फल नहीं भोगना पड़ेगा, क्योंकि—वह जानते हैं, कि—यह कर्म देह इन्द्रिय आदिके धर्म हैं, इनसे आत्माका कुछ संबन्ध नहीं है। कर्मके फलरूप सुख दुःख और जन्म मरण प्रारब्धके अनुसार

ही होते हैं, ऐसा निश्चय रखनेवाला पुरुष यह इच्छा नहीं करता है, कि—अमुक कर्म मुझे करना ही चाहिये, इस कारण ही वह कर्म करनेमें परिश्रम नहीं करता है तथा प्रारब्धानुसार कर्म करके लिप्त भी नहीं होता है, क्योंकि—उसको 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं होता है ॥ ४ ॥

चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी ।
तया हीनः सुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः ॥५॥

राजाने कहा, कि—हे महाराज ! यह कैसे मानलिया जाय कि—कोई कर्म करे और वह उसके पाप पुण्यरूप फलको न भोगे, इसका उत्तर देतेहुए अष्टावक्रजी कहते हैं कि—हे राजन् ! इस संसारमें दुःखमात्र चिन्तासे उत्पन्न होता है और किसी प्रकार उत्पन्न नहीं होता, ऐसे निश्चय वाला पुरुष चिन्तारहित होकर सुखी होता है, शान्ति पाता है और सकल विषयोंमेंसे उसकी भोगलालसा दूर होजाती है ॥ ५ ॥

नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी ।
कैवल्यमिव सम्प्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥ ६ ॥

पीछे कहे साधनसम्पन्न ज्ञानीकी दशाका वर्णन करते हुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—जिस पुरुषको ऐसा निश्चय होजाता है, कि—मैं देह नहीं हूँ और यह देह मेरा नहीं है, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ वह पुरुष ज्ञानके द्वारा देह आदिमें अहम्भाव और ममत्व दूर होजानेके कारण मुक्तदशाको प्राप्त हुए जीवन्मुक्तकी समान मैंने क्या नहीं किया और क्या किया, इसका स्मरण भी नहीं रखता है ॥ ६ ॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमहमेवेति निश्चयी ।
निर्विकल्पः शुचिः शान्तः प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः ७

ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सकल जगत् मेरा ही रूप है, ऐसे निश्चयवाला पुरुष सङ्कल्पविकल्पसे रहित, विषयवासनारूप मलसे रहित, पवित्रात्मा, शान्तचित्त और प्राप्त अप्राप्त वस्तुकी इच्छा से रहित होकर परम सन्तोषको पाता है ॥ ७ ॥

नानाश्चर्यमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी ।
निर्वासनः स्फूर्त्तिमात्रो न किञ्चिदिति शाम्यति ८

ज्ञानी के सङ्कल्प अपने आप किसप्रकार नष्ट होजाते हैं इस बातको

दिखाते हुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—अधिष्ठानरूप ब्रह्मका साक्षात्कार होजाने पर जगत् कल्पनामात्र मिथ्या प्रतीत होने लगता है तथा नानारूपवाला यह जगत् ज्ञानी को आत्मस्वरूप ही प्रतीत होता है यह सब जगत् मेरी (आत्माकी) सत्तासे ही फुर रहा है, ऐसा निश्चय होते ही ज्ञानीकी सब वासनायें नष्ट होजाती हैं और चैतन्यस्वरूप होजाता है तथा उसको कोई व्यवहार शेष नहीं रहता है, इस कारण वह शान्ति को प्राप्त होजाता है अर्थात् उस ज्ञानीकी कार्यकारणरूप उपाधि नष्ट होजाती है, क्योंकि—ज्ञानीको सब जगत् स्वप्न की समान भासने लगता है ॥ ८ ॥

एकादश प्रकरण समाप्त.

कायकृत्यसहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः ।
अथ चिन्तासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥ १ ॥

पहिले प्रकरण में जो अष्टावक्रजीने आठ श्लोकोंमें ज्ञानका उपदेश दिया, उसको ही अब शिष्य अपने में दिखाता है, कि—हे गुरो ! पहिले मैंने आपकी आज्ञासे शरीरसाध्य यज्ञादि क्रियाओं का त्याग किया,फिर वाणीके कर्मका विस्तार जो निन्दा स्तुति आदि उसको मैंने त्याग दिया,फिर मनके कर्म सङ्कल्प विकल्पोंको त्याग दिया,इसकारण सकल व्यवहारोंको त्यागनेवाला मैं अब केवल चैतन्यस्वरूप आत्मा का आश्रय करके स्थित हूँ ॥ १ ॥

प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः ।
विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः ॥ २ ॥

कायिक वाचिक और मानसिक तीनों कर्म मनकी एकाग्रतामें विक्षेप डालते हैं । लोकान्तरकी प्राप्ति करानेवाले यज्ञादिसे शरीरको विक्षेप होता है कि-जिससे मनका निरोध नहीं होसकता, निन्दा स्तुति आदि के कर्म भी मनका निरोध नहीं होने देते और सङ्कल्प विकल्परूप मानसिक कर्म तो मनके निरोध में विक्षेप करने वाले हैं ही इसकारण ही शब्दादि विषयों में मेरी प्रीति नहीं है । आत्मा अदृश्य कहिये ध्यान आदि का अविषय है, क्योंकि—आत्मा चेतन है और मन बुद्धि आदि अचेतन जड़ हैं। जड़ चेतनको अपना विषय नहीं करसकता, इसलिये आत्माका ध्यान करने की चिन्तारूप विक्षेप भी मुझ में नहीं है इस कारण मैं एकाग्रहृदय होकर आत्मस्वरूप में स्थित हूँ ॥ २ ॥

समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये।
एवं विलोक्य नियममेवमेवाहमास्थितः॥ ३॥

यदि कहो, कि—किसी प्रकारका विक्षेप न होनेपर भी समाधिके लिये तो मन आदिका कुछ व्यापार करना ही पड़ेगा? तो इसका उत्तर यह है, कि-हे गुरो! मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ इत्यादि अनर्थों का हेतु जो अध्यास है, उससे जो विक्षेप होता है, उस विक्षेप को दूर करनेके लिये ही समाधिकी साधना करनेमें मन आदिका व्यापार करना पड़ता है, ऐसे नियमको देखकर मैंने पहिले ही अध्यासको दूर कर दिया है, फिर समाधिके लिये मन आदिके व्यवहारकी क्या आवश्यकता है? मैं तो समाधिसे रहित आत्मस्वरूपमें स्थित हूँ॥३॥

हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषादयोः।
अभावादद्य हे ब्रह्मन्नेवमेवाहमास्थितः॥ ४॥

हे ब्रह्मन्! आत्मज्ञानकी प्राप्ति होनेके कारण मैं तो न कुछ त्यागने योग्य देखता हूँ,और न कुछ ग्रहण करने ही योग्य देखता हूँ,इसकारण किसी पदार्थके प्रारब्धवश आजानेसे मुझे हर्ष नहीं होता और न किसी वस्तुके नष्ट होजाने से मुझे शोक ही होता है, मैं तो आत्मस्वरूप में स्थित हूँ॥ ४॥

आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनम्।
विकल्पं मम वीक्ष्यैतैरेवमेवाहमास्थितः॥ ५॥

हे गुरो! गृहस्थाश्रमके धर्म अग्निहोत्र आदि और अनाश्रमी कहिये संन्यासीके धर्म दण्डधारण आदि, योगियोंके धर्म ध्यान आदि और चित्त का किसी वस्तुको स्वीकार करना और त्यागना इन सबसे विक्षेप होता देखकर मैंने इनको त्यागदिया है, अब तो मैं आत्मस्वरूप में स्थित हूँ॥ ५॥

कर्मानुष्ठानमज्ञानाद्यथैवोपरमस्तथा।
बुद्ध्वा सम्यगिदं तत्त्वमेवमेवाहमास्थितः॥ ६॥

जिसको आत्माके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता है, वही स्वर्ग आदि फलके लोभसे कर्म करनेमें लगता है और आत्मस्वरूपके अज्ञानसे ही कर्म करनेसे उपरत होता है, जिसको आत्मज्ञान होजाता है वह

तो न कर्म करनेमें प्रवृत्त होता है न कर्मका त्यागना ही चाहता हूँ, आत्मा में तो त्याग और ग्रहण कुछ है ही नहीं, प्रारब्धके अनुसार शरीर आदि कर्म करें चाहे न करें, इस तत्त्वको यथार्थ रीतिसे जानकर मैं तो आत्मस्वरूप में स्थित हूँ ॥ ६ ॥

अचिन्त्यं चिन्त्यमानोऽपि चिंतारूपं भजत्यसौ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थितः॥ ७ ॥

ब्रह्म अचिन्त्य है अर्थात् मन वाणी से चिन्तवन नहीं कियाजा सकता, उसका चिन्तवन करताहुआ भी यह पुरुष चिन्ता के रूपका सेवन करता है, उस चिन्ता को भी त्यागकर मैं तो आत्मस्वरूप में स्थित हूँ ॥ ७ ॥

एवमेवं कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ।
एवमेवस्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ ॥ ८ ॥

जिस पुरुषने इसप्रकार साधनोंके द्वारा सकल क्रियाओं से रहित आत्मस्वरूपको जानलिया वही कृतार्थ अर्थात् जीवन्मुक्त होजाता है और जिसने विना ही साधनों के स्वभावसे ही शरीर इन्द्रिय आदि की क्रिया से रहित शुद्ध आत्मस्वरूपको जान लिया हैं उसके कृतार्थ होनेका तो कहना ही क्या है? ॥ ८ ॥

द्वादश प्रकरण समाप्त

अकिञ्चनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम्।
त्यागादाने विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥ १ ॥

जीवन्मुक्त अवस्थाके फलरूप परम सुखका वर्णन करतेहुए जनक जी कहते हैं, कि-सकल विषयोंमें आसक्ति को त्यागनेसे होनेवाली चित्तकी स्थिरता, कौपीनमात्रमें, आसक्ति रखनेसे भी नहीं होती है, इसकारण मैं पदार्थोंको त्यागने और ग्रहण करनेके विषय में आसक्ति को त्यागकर सर्वदा परमसुखसे स्थित हूँ ॥ १ ॥

कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते।
मनः कुत्राहि तत्त्यक्त्वा पुरुषार्थे स्थितः सुखम्॥ २॥

कहीं अर्थात् चलना फिरना आदि शरीरके कर्मोंमें कायाको खेद होता है, कहीं अर्थात् सत्य मिथ्याभाषण आदि में जिह्वाको खेद होता है

और कहीं अर्थात् सङ्कल्प विकल्प आदि करने में अथवा ध्यान धारणा आदि करनेमें मनको खेद होता है,इस कारण उन तीनों दुःखों से बचकर मैं तो परमसुखके साथ आत्मस्वरूपमें स्थित हूँ ॥ २ ॥

कृतं किमपि नैव स्यादिति सञ्चिन्त्य तत्त्वतः ।
यदा यत्कर्त्तुमायाति तत्कृत्वासे यथासुखम् ॥ ३॥

यदि कहो, कि—शरीर वाणी और मनके सकल व्यवहारों को त्यागनेसे तो शरीरका भी त्याग होजायगा, क्योंकि—ऐसे त्यागमें तो अन्न जलका भी त्याग होकर शरीर कैसे रहसकता है ? तो इसका उत्तर यह है, कि—हे गुरो ! शरीर आदि इन्द्रिय आदिका किया हुआ कोई भी कर्म वास्तवमें आत्माका किया हुआ नहीं होता है, ऐसा विचार करके जो शरीरादि के निमित्त खान पान आदि कर्म करना पड़ता है उसको निरहङ्कारभावसे करता हुआ भी मैं सुखपूर्वक आत्मस्वरूपमें स्थित हूँ ॥ ३ ॥

कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्धभावा देहस्थयोगिनः ।
संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम् ॥ ४ ॥

यदि कहो, कि- चाहे कर्मोंको किया ही करे, या कर्मोंको त्याग ही देय, एकसाथ दोनों मार्गमें चलना कैसे बनसकता है ? तो हे गुरो ! कर्म और निष्कर्मका हठरूप स्वभाव तो उसको ही होता है, जिस की देह आदिमें आसक्ति होती है, हे प्रभो ! मेरा तो देहके संयोग वियोगमें भी हठ नहीं है, देहका संयोग बना रहे चाहे वियोग होजाय मैं तो अहङ्कार और हठसे रहित होकर सुखके साथ आत्मस्वरूपमें स्थित हूँ ॥ ४ ॥

अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या न शयनेन वा ।
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन्तस्मादहमासे यथासुखम् ॥५॥

हे गुरो ! चलना फिरना बैठना उठना आदि लौकिक व्यवहारमें भी मेरी कुछ हानि लाभ नहीं है, क्योंकि—लौकिक व्यवहारमें मैं अभिमानसे रहित हूँ, इस कारण चाहे मैं खड़ा रहूँ, चाहे चलता रहूँ अथवा सोता ही रहूँ, परन्तु इनमें मेरी आसक्ति नहीं होती है, इस कारण मैं इन क्रियाओंमें भी सुखपूर्वक आत्मस्वरूपमें ही स्थित रहता हूँ ॥ ५ ॥

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा ।
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥६॥

यदि मैं सकल चेष्टाओंको त्यागकर सोया ही रहूँ तो मेरी कुछ हानि नहीं हैं और यदि विशेष यत्न करूँ तो मुझे सिद्धि कहिये किसी प्रकार का लाभ नहीं है, इस कारण मैं यत्न अयत्नमें भी हर्ष शोकको त्याग कर सुखपूर्वक आत्मस्वरूपमें स्थित हूँ, क्योंकि-यत्न अयत्नादि सब देह इन्द्रियादिके के धर्म हैं आत्माके धर्म नहीं हैं ॥ ६ ॥

सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः ।
शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥ ७ ॥

मनुष्य पशु आदिके अनेकों जन्मोंमें प्रायः देखते हैं कि-कोई सदा सुखी ही रहता हो या सदा दुःखी ही रहता हो, यह नियम नहीं है, अर्थात् मनुष्यादि योनियों में प्राप्त होनेवाले सुख दुःख आदि अनित्य हैं, इस कारण ही शुभ और अशुभ कर्मोंको त्यागकर मैं तो सुखपूर्वक आत्मस्वरूपमें स्थित रहता हूँ ॥ ७ ॥

त्रयोदश प्रकरण समाप्त

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद्भावभावनः ।
निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणो हि सः ॥ १ ॥

अब अपनी सुखरूप अवस्थाका वर्णन करता हुआ राजा जनक कहता है, कि—जो पुरुष अपने स्वभाव करके तो चित्तके धर्मोंसे अलग है, परन्तु बुद्धिके द्वारा प्रारब्ध कर्मोंके वशमें होकर अज्ञानके कारण सङ्कल्प विकल्पोंकी भावना करता है। जैसे कि—कोई पुरुष सुखसे सोरहा हो, कोई दूसरा पुरुष उसको जगाकर उससे काम करावे तो वह काम उस पुरुषके मनकी इच्छाके अनुकूल नहीं होता है, किन्तु वह अन्य पुरुषके वशमें होकर उस काम को करता है, वास्तवमें उसका चित्त उस कामके सङ्कल्प विकल्पसे रहित होता है, तैसे ही प्रारब्ध कर्मानुसार सङ्कल्प विकल्प करने वाले ज्ञानीका चित्त संसारके सङ्कल्प विकल्पों से रहित शान्त-स्वरूप होता है ॥ १ ॥

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः।

क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा॥ २॥

जिसके चित्तमें से विषयोंकी भावना दूर होगयी है ऐसे मेरी विषयोंको भोगनेकी अभिलाषा जब दूर होगयी तब मेरे धनरत्न कहाँ? मित्र कहाँ? ज्ञानकी गठरी को लूटनेवाले विषयरूप लुटेरे कहाँ? शास्त्र कहाँ? और मनन निदिध्यासन आदि विज्ञान कहाँ? मेरी तो किसी में भी आसक्ति नहीं है॥ २॥

विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे।
नैराश्ये बन्धमोक्षे च न चिन्ता मुक्तये मम॥ ३॥

देह इन्द्रिय और अन्तःकरण आदि के साक्षी सर्वशक्तिमान् परमात्मदेव का ज्ञान होजाने पर मुझे बन्ध तथा मोक्ष में आस्था नहीं रही है तथा मुझे मुक्ति के लिये भी चिन्ता नहीं है॥ ३॥

अन्तर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छन्दचारिणः।
भ्रान्तस्येव दशास्तास्तास्तादृशा एव जानते॥ ४॥

जिसका अन्तःकरण सङ्कल्प विकल्प से रहित है अर्थात् जिसको भीतर से कोई भी विषयवासना नहीं फुरती है और जो बाहर भ्रान्त कहिये उन्मत्त की समान स्वच्छन्द होकर विचरता है वह ज्ञानी है उसकी ज्ञानावस्था को उसके से ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं॥ ४॥

चतुर्दश प्रकरण समाप्त

यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्त्वबुद्धिमान्।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति॥ १॥

अष्टावक्रजी राजा जनक को ज्ञानका उपदेश करचुके हैं, तथापि शास्त्रका नियम है कि—आत्मतत्त्वका ज्ञान होना बड़ा ही कठिन है इसकारण शिष्यको इसका बार बार उपदेश करे, छान्दोग्य उपनिषद् में गाथा है कि—ब्रह्माजीने विरोचन को अनेकों बार आत्मतत्त्व का उपदेश दिया था, इसकारण अष्टावक्रजी अधिकारी अनाधिकारी का वर्णन करते हुए जनक को फिर उपदेश देते हैं, कि-जिसकी बुद्धि सत्वगुणी होती है वह शिष्य थोड़ासा उपदेश सुनकर भी कृतार्थ होजाता है इसकारण ही सत्ययुग में केवल एक अक्षर ब्रह्मरूप ॐकार के उपदेश से ही अनेकों शिष्य कृतार्थ कोहिय ज्ञान को प्राप्त होगये।

जिनकी तामसी बुद्धि होती है उनको मरण पर्यन्त आयुभर उपदेश दो तो भी उनको आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं होता है, किन्तु वह महामोहमें पड़े रहते हैं, तभी तो प्रह्लाद के पुत्र दैत्य (तमोगुणी) विरोचनको ब्रह्माजीने अनेकों वार उपदेश दिया परन्तु वह महामोह में ही डूबा रहा, क्योंकि—उसकी बुद्धि तामसी थी ॥ १ ॥

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः ।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २ ॥

विषयोंमें आसक्ति न करना ही मोक्ष है और विषयों के स्वादमें लेना ही बन्धन है। गुरु और शास्त्रके उपदेशसे इतनी बातका ही विशेष रूपसे ज्ञान होने की आवश्यकता है, अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो तैसा करो ॥ २ ॥

वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजड़ालसम् ।
करोति तत्त्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षुभिः ॥ ३ ॥

तत्त्वज्ञानके सिवाय और किसी उपायसे विषयासक्ति नहीं छूट सकती, इसबातका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि—यह तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्मस्वरूपका साक्षात्कार बड़े बोलनेवाले चतुर पुरुष को भी गूंगा बनादेता है, बड़े विद्वान्को भी जड़ बना देता है और बड़े भारी उद्योगी पुरुषको भी आलसी बनादेता है। यदि मनका प्रवाह अन्तरात्मा की ओरको ढलजाय तो ज्ञानीकी वाणी आदि सब इन्द्रियें शिथिल पड़जाती हैं अर्थात् अपने २ विषयोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ होजाती हैं, इस लिये ही विषयभोगकी लालसावाले पुरुषोंने इस तत्त्वज्ञानका अनादर कर रक्खा है ॥ ३ ॥

न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्त्ता न वा भवान् ।
चिद्रूपोऽसि सदासाक्षी निरपेक्षः सुखं चर ॥४॥

हे जनक ! तू देहरूप नहीं है तथा तेरा देह भी नहीं है, क्योंकि—तू तो चेतन रूप है। तू कर्मों का फल भोगनेवाला वा कर्म करने वाला भी नहीं है, क्योंकि—कर्म करना और उनका फल भोगना यह तो शरीर मन बुद्धि के धर्म हैं, तू मन बुद्धि आदिका साक्षी है। जो जिसका साक्षी होता है वह उससे भिन्न होता है, जैसे घटका साक्षी घटसे भिन्न होता है, तैसे ही कर्त्ता भोक्ता जो अंतःकरण उसका

साक्षी भी उससे भिन्न है । जैसे नृत्यसभामेंका दीपक सभाके स्वामी को, सभामें बैठेहुए मनुष्योंको और नर्त्तकीको एकसमान ही प्रकाश देता है । यह शरीर ही नृत्यसभा है, अहङ्कार इस सभाका स्वामी है, विषय इस सभामें बैठनेवाले हैं बुद्धि इसमें नर्त्तकी (नाचनेवाली) है और सब इंद्रियें ताल बजानेवाली हैं, चेतन आत्मा सबको प्रकाश देनेवाला साक्षी है । जैसे दीपक अपने स्थानमें स्थित हुआ सबको प्रकाश देता है, तैसे ही चेतन भी अचलभावसे स्थित होकर सबको प्रकाश देता है । हे जनक ! तू अपने को देह और उसमें के इन्द्रिय अहङ्कार आदिका साक्षी मानकर देहके सम्बन्धी स्त्री पुत्र आदिसे उदासीन रहता हुआ आनन्दसे संसारयात्राको निबाहेजा ॥ ४ ॥

रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन ।
निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर ॥५॥

हे जनक ! राग द्वेष आदि मनके धर्म हैं, तेरे (आत्माके) कदापि नहीं हैं और मनका सम्बन्ध तेरे साथ कदापि नहीं है, क्योंकि—तू तो सङ्कल्पविकल्परहित ज्ञानस्वरूप है, इस कारण तू राग द्वेप आदि विकारोंसे रहित होकर सुखसे विचर ॥ ५ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
विज्ञाय निरहङ्कारो निर्ममस्त्वं सुखी भव ॥ ६ ॥

हे राजा जनक ! ब्रह्मासे लेकर चींटी पर्यन्त सब प्राणियोंमें आत्मा कारणरूपसे पुरा हुआ है और सकल प्राणी आत्मामें अध्यस्त कहिये कल्पित हैं, ऐसा जानकर ममता और अहङ्कारसे रहित होता हुआ, सुखपूर्वक विचर ॥ ६ ॥

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरङ्गा इव सागरे ।
तत्त्वमेव न सन्देहश्चिन्मूर्त्ते विज्वरो भव ॥ ७ ॥

हे जनक ! जैसे समुद्रमेंकी तरङ्गें कल्पित और अनित्य होती हैं, तैसे ही जिस आत्मामें यह विश्व कल्पित है वह चेतन आत्मा निःसन्देह तू ही है, इस कारण हे जनक ! तू सन्तापरहित होकर ऐसा अनुभव कर, कि-मैं चेतनरूप सकल दुःखोंसे रहित हूँ ॥ ७ ॥

श्रद्धत्स्व तात श्रद्धत्स्व नात्र मोहं कुरुष्व भोः ।
ज्ञानस्वरूपो भगवानात्मा त्वं प्रकृतेः परः ॥ ८ ॥

हे तात जनक ! मैं बार २ कहता हूँ, कि-तू गुरुके उपदेश पर और शास्त्रकी शिक्षा पर श्रद्धा कर, विश्वास रख, आत्माकी चेतनरूपता के विषयमें मोह कहिये संशय विपर्ययरूप अज्ञान न कर, क्योंकि-तू ज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तिमान् प्रकृतिसे पर आत्मा है ॥ ८ ॥

गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च ।
आत्मा न गन्ता नागन्ता किमेनमनुशोचसि ९

हे जनक ! गुण कहिये इन्द्रियादिसे लिपटा हुआ लिङ्गशरीर ही इस संसारमें रहता है, आता है और जाता है, आत्मा तो न कहीं जाता है और न कहींसे आता है, इसलिये मैं इस संसारसे चला जाऊँगा, मेरा मरण होजायगा, ऐसे देहके धर्मोंको आत्मामें मानकर तुझे कभी शोक नहीं करना चाहिये, आत्मा तो नित्य चेतनरूप है ॥ ९ ॥

देहस्तिष्ठतु कल्पान्तं गच्छत्वद्यैव वा पुनः ।
क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः १०

यह तुम्हारा स्थूल देह चाहे कल्पके अन्त तक टिका रहे इससे तेरी वृद्धि कहाँ ? और अब ही चलाजाय अर्थात् नष्ट होजाय तो उसमें तेरी हानि कहाँ ? अर्थात् देहके न रहनेमें तेरा कुछ हानि लाभ नहीं है, क्योंकि-तू तो शुद्ध चेतनरूप है ॥ १० ॥

त्वय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः ।
उदेतु वास्तमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः ॥ ११ ॥

तू (आत्मा) अनन्त महासागररूप है तिसमें जो अविद्या और सकाम कर्मोंके कारणसे संसाररूप लहरें उठ रही हैं, यह उठा करें अथवा लीन होजाया करें, इससे तेरा कुछ हानि लाभ नहीं है, क्योंकि चेतन अधिष्ठान में कल्पित वस्तु से क्या हानि लाभ होसकता है? जिस की अपनी ही सत्ता नहीं है वह दूसरेका हानि लाभ क्या करेगी? ११ ॥

तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत् ।
अतः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥ १२ ॥

हे तात जनक ! तू शुद्ध चेतनस्वरूप है, यह जगत् तुझसे भिन्न नहीं है, फिर त्यागना और ग्रहण करना किसका, कैसे और कहाँ होसकता है? ॥ १२ ॥

एकस्मिन्नव्यये शान्ते चिदाकाशेऽमले त्वयि।
कुतो जन्म कुतो कर्म कुतोऽहङ्कार एव च ॥ १३॥

हे तात जनक ! तू सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदशून्य, नाश और विकारसे रहित, चिदाकाश और निर्मल है, फिर तेरा जन्म कैसा? तेरा कर्म करना भी नहीं बनता तथा तुझमें अहङ्कार भी कहाँ से होसकता है? क्योंकि—यह सब द्वैतमें ही होसकते हैं, द्वैत तेरा रूप त्रिकालमें भी नहीं है, तू तो शुद्धस्वरूप एकरस है ॥ १३ ॥

यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे।
किं पृथक् भासते स्वर्णात्कटकाङ्गदनूपुरम्॥ १४ ॥

हे जनक ! खँडुए, बाजूबन्द, पायजेब, आदि आभूषण क्या सोने से अलग भासते हैं ? कदापि नहीं, यदि इन आभूषणोंमेंसे सोनेको निकाल लिया जाय तो यह कुछ भी न रहें, ऐसेही जो जो विश्वप्रपञ्च का कार्य तू देखरहा है, इन सब कार्योंमें कारणस्वरूप तू (आत्मा) ही भासरहा है, तुझसे भिन्न कुछ है ही नहीं ॥ १४ ॥

अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यज।
सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसङ्कल्पः सुखी भव॥ १५॥

यह जो देह इन्द्रिय आदि सकल पदार्थ हैं, इन का मैं साक्षी हूँ, मैं देह इन्द्रियादिरूप नहीं हूँ, अथवा यह वह है, यह मैं हूँ, ऐसे भेद को त्याग दे, और सब जगत् आत्मा ही है ऐसा निश्चय करके सकल सङ्कल्प विकल्पोंको त्याग दे और सुखी हो ॥ १५ ॥

तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः।
त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी नासंसारी च कश्चन १६

हे जनक ! तेरे अज्ञान कहिये आत्मस्वरूपको न जाननेसे ही यह विश्व भासता है, वास्तवमें संसार कोई नहीं है, वास्तवमें तो यह सब कुछ एक तू ही है, संसारी वा असंसारी तुझसे भिन्न और कोई है ही नहीं ॥ १६ ॥

भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति॥

हे राजन् ! यह जगत् भ्रान्तिमात्रसे प्रतीत होरहा है, इसकी अपनी सत्ता कुछ भी नहीं है, ऐसा निश्चय जिसको होगया है वह पुरुष वासना-रहित और प्रकाशस्वरूप होकर इसप्रकार शान्तिको प्राप्त होजाता है, कि-मानो उसकी दृष्टिमें सुख दुःखरूप संसार कुछ है ही नहीं १७

एक एव भवाम्भोधावासीदस्ति भविष्यति ।
न ते बन्धोऽस्ति मोक्षो वा कृतकृत्यः सुखं चर १८

हे जनक ! संसाररूप समुद्रमें एक तू ही था तू ही है और तू ही रहेगा । इससे यह न समझलेना कि-तब तो मैं सदा बन्धनमें ही रहा, मेरी मोक्ष कभी हो ही नहीं सकती, हे तात ! जबतक तुमने आत्म-स्वरूपको नहीं जाना था तबतक ही तुम बन्धनके फन्देमें पड़े थे, अब तुमको ज्ञान होगया, कि—तुम ही असङ्ग साक्षीरूपसे सर्वत्र अनुस्यूत थे, तथा रहोगे, क्योंकि—यह संसार तुझमें ही रज्जुमें सर्पकी समान कल्पित है, अब तेरे न बन्धन है न मोक्ष है, इस कारण कृतार्थ हुआ तू सुखसे विचर ॥ १८ ॥

मा सङ्कल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय ।
उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मन्यानन्दविग्रहे ॥ १९॥

हे जनक ! तू चेतनरूप है, सङ्कल्प विकल्पोंसे तू अपने चित्तको चलायमान न कर, किन्तु चित्तको शान्त करके आनन्दरूप आत्म-स्वरूपके विषें स्थित हो ॥ १९ ॥

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किञ्चिद्धृदि धारय ।
आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि॥

हे राजन् ! तू सर्वत्र ही ध्यानको त्यागदे, कुछ भी सङ्कल्प विकल्प हृदयमें धारण न कर, क्योंकि—आत्मा तू सदा मुक्त ही है, फिर ध्यानसे भी तुझे क्या फल प्राप्त होगा ? ॥ २० ॥

पञ्चदश प्रकरण समाप्त

आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः ।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥ १ ॥

तत्वज्ञानके द्वारा सकल विश्वप्रपञ्चको आत्मस्वरूप देखना और तृष्णाका नाश करना ही मुक्ति है, इस बातका वर्णन करते हुए अष्टा-वक्रजी कहते हैं कि—तू अनेकोंवार अनेकों शास्त्र दूसरोंको पढ़ा

और चाहे गुरु से पढ़ परन्तु सब को भूले विना अर्थात् सब वस्तुओं के भेद को त्यागे विना स्वास्थ्य कहिये मुक्ति कभी नहीं होगी, भेद-दृष्टि को त्यागने से ही मोक्ष होगी। यदि कहे, कि-सुषुप्ति में प्राणियों को स्वयं ही सब वस्तुओंका विस्मरण होजाता है, इसकारण सुषुप्ति अवस्था में सबकी मोक्ष होजानी चाहिये? इसका उत्तर यह है, कि—यद्यपि सुषुप्ति में सकल वस्तुओंका भान नहीं रहता है, परन्तु एक अज्ञानका भान तो रहता ही है, इसकारणही मोक्ष नहीं होती है, जब अज्ञानसहित जगत्मात्रका भान नहीं रहता है तब ही मुक्ति होती है ॥ १ ॥

भोगं कर्म समधिम्वा कुरु विज्ञ तथापि ते।
चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्याति ॥ २ ॥

हे राजा जनक! तू ज्ञानवान् होकर चाहे विषयों को भोग, चाहे कर्म कर और चाहे समाधि लगा तो भी आत्मज्ञान के प्रभाव से सकल आशाओंसे शून्य हुआ तेरा चित्त आत्मस्वरूप में ही अधिक लगेगा, क्योंकि—आशा ही बन्धनका हेतु है, इस कारण तू सकल आशा और आसक्ति से रहित होकर विचरेगा तो परमसुखी होगा॥ २॥

आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम् ॥३॥

सब ही प्राणी शरीरके निर्वाहके लिये परिश्रम करनेमें दुःख उठाते हैं, परन्तु इस बातको जानते नहीं हैं, क्योंकि—विषयानन्द में निमग्न रहते हैं, परन्तु महापुरुष शरीरके निर्वाहके लिये परिश्रम नहीं करते हैं, क्योंकि—शरीरकी रक्षा तो प्रारब्ध कर्म अपने आप ही करलेता है, उस के लिये विशेष यत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा उपदेश पाकर जो परमसुखको पाता है वह धन्य है ॥ ३ ॥

व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि
तस्यालस्यधुरीणस्य सुखं नान्यस्य कस्यचित् ॥४॥

जो ज्ञानवान् व्यापार में आसक्ति न होना ही सुखका हेतु है, जीवन्मुक्त पुरुष हैं उनको नेत्र मूँदने और खोलनेमें भी खेद होता है, उस आलसियोंके शिरोमणि अर्थात् निष्क्रिय-पुरुष को ही परमसुख मिलता है और किसीको सुख नहीं मिलता है ॥ ४ ॥

इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तं यदा मनः ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत् ॥ ५ ॥

जिसके मनका द्वैतभाव नष्ट होजाता है अर्थात् इस कामको मैंने करलिया और यह काम मैंने नहीं किया, ऐसे द्वन्द्वों से जब पुरुषका मन शून्य होजाता है, तब वह पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की इच्छा नहीं करता है, क्यों कि—वह जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त होजाता है ॥ ५ ॥

विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः ।
ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान् ॥६॥

जो मुमुक्षु होकर स्त्री पुत्र आदि विषयोंसे चित्तको हटा लेता है वह विरक्त कहलाता है और जो विषयोंमें अभिलालसा रखता है वह रागी कहलाता है, परन्तु जो विषयों के ग्रहण और त्याग से रहित ज्ञानी होता है वह न विरक्त ही होता है और न रागी ही होता है अर्थात् प्रारब्धवश जो प्राप्त होता है उसका त्याग नहीं करता है और जो वस्तु प्राप्त नहीं होती है उसको पानेकी इच्छा नहीं करता है, वह ही जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ६ ॥

हेयोपादेयता तावत्संसारविटपांकुरः ।
स्पृहा जीवति यावद्वै निर्विचारदशास्पदम् ॥७॥

विचारशून्य दशाकी निवासस्थानरूप इच्छा का नाम तृष्णा है अर्थात् जिस समय कोई विचार न होकर केवल भोगकी ही इच्छा हो उसका ही नाम तृष्णा है। जो तृष्णावाला पुरुष है वह जबतक जीता रहता है तब तक ग्रहण और त्याग करता ही रहता है, यह ही संसाररूप वृक्षका अंकुर है,परन्तु यह तृष्णारूप अंकुर जीवन्मुक्त पुरुषोंमें नहीं रहता है, यदि प्रारब्ध कर्मके अनुसार जीवन्मुक्तमें ग्रहण और त्यागका व्यवहार हो भी तो उससे उसकी कुछ हानि नहीं होती है ॥ ७ ॥

प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि ।
निर्द्वन्द्वो बालवद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः ॥ ८ ॥

यदि विषयोंमें प्रवृत्ति कीजाय तो रात दिन विषयोंमें अनुराग बढ़ता

चला जाता है और जब विषयोंसे बचनेका ध्यान दियाजाय तो दिन दिन विषयोंमें द्वेष बढ़ता चलाजाता है, इसकारण ज्ञानी पुरुष शुभ अशुभ के विचारसे रहित बालक की समान राग द्वेषसे रहित होकर निर्द्वन्द्वरूपसे आत्मस्वरूपमें स्थित होता है ॥ ८ ॥

हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया ।
वीतरागो हि निर्मुक्तस्तस्मिन्नपि न खिद्यते॥ ९ ॥

जो पुरुष विषयोंमें आसक्त होरहा है, वह ही दुःखोंसे छुटकारा पानेकी अभिलाषासे संसारको त्यागना चाहता है और जिसको विषयोंसे वैराग्य होगया है वह संसारमें रहता हुआ भी खेद नहीं मानता है ॥ ९ ॥

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा ।
न च ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागसौ ॥१०॥

जिस पुरुषको—मैं त्यागी हूं, मैं त्रिकालदर्शी हूँ, मैं ज्ञानी हूं और मेरा शरीर उपवास आदि अनेकों प्रकारके कष्टोंको सहसकता है, ऐसा अभिमान होता है और देहमें ममता होती है, वह न ज्ञानी है, न योगी है, किन्तु केवल दुःख भोगनेवाला ही है ॥ १० ॥

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा ।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥ ११ ॥

हे जनक ! चाहे तुझे साक्षात् महादेव, विष्णु और ब्रह्माजी उपदेश दें, परन्तु जबतक सकल अनित्य पदार्थोंका विस्मरण नहीं होगा अर्थात् जब तक संसारके सकल विषयोंको त्याग नहीं देगा तबतक स्वास्थ्य कहिये शान्ति और जीवन्मुक्त दशाका सुख प्राप्त नहीं होगा

षोडश प्रकरण समाप्त.

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा ।
तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यमेकाकी रमते तु यः ॥१॥

जो विषयभोगों से रहित होकर आत्मस्वरूपमें ही तृप्त है और विषयभोगकी इच्छा लेशमात्र भी न रहनेसे जिसकी इन्द्रियें स्वच्छ निर्विकार हैं और जो नित्य निःसङ्ग होकर अकेला ही विचरा करता है, उसने ही ज्ञानका फल पाया है और उसने ही योगाभ्यासका फल पाया है ॥ १ ॥

न कदाचिज्जगत्यस्मिंस्तत्त्वज्ञो हन्त खिद्यति ।
यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥ २ ॥

इस जगत्में आत्मतत्त्वका ज्ञाता पुरुष कभी भी खेद नहीं पाता है क्योंकि—वह जानता है कि—एक मेरे द्वारा ही यह ब्रह्माण्डमण्डल व्याप्त होरहा है, दूसरा कोई है ही नहीं, जब कोई दूसरा हो तो उस से खेद होता है। श्रुति भी कहती है—"द्वितीयाद्वै भयं भवति" ॥२॥

न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी ।
सल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभं निम्बपल्लवाः ॥ ३ ॥

जो पुरुष निरंतर अपने आत्मामें रमण करता है उसका नाम आत्माराम है, उस आत्मारामको इस जगत् के यह कोई भी विषय प्रसन्नता नहीं देते हैं, वह विषयोंके सुखको मिथ्या जानता है, क्यों कि—वह अपनी सत्तासे शून्य हैं। जैसे कि—सहस्रा हाथियों के झुण्डमें स्वतन्त्र होकर विचरनेवाले जिस वनके मदमत्त हाथीने सल्लकी कहिये मीठे रसवाली लताके पत्ते खाये हैं, उसको क्या नीम के कडुये पत्ते प्रसन्नता देसकते हैं? कदापि नहीं देसकते। ऐसे ही जो ज्ञानी आत्मानन्दका मधुर स्वाद लेता है उसको क्या विषय सुख आनन्द देसकते हैं कदापि नहीं, वह तो विषयोंके सुखों को अति कडुए जानकर उनकी ओर को आंख उठाकर भी नहीं देखता है ॥ ३ ॥

यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासितः ।
अभुक्तेषु निराकांक्षी तादृशो भवदुर्ल्लभः ॥ ४ ॥

हे जनक! जिसकी भोगेहुए विषयों में आसक्ति नहीं होती है और जो न भोगे हुए विषयोंकी लालसा नहीं रखता है, ऐसा आत्मानन्द में तृप्त रहने वाला पुरुष संसार में मिलना बड़ा ही कठिन है अर्थात् करोड़ोंमें कोई एक होता है ॥ ४ ॥

बुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते ।
भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः ॥ ५ ॥

इस जगत् में विषयभोगकी अभिलाषा करने वाले अनेकों देखने में आते हैं और मोक्ष चाहनेवाले भी बहुत देखे जाते हैं परन्तु विषय-

भोग और मोक्ष दोनों की इच्छासे रहित तथा पूर्ण ब्रह्म के विषैं शुद्ध अन्तःकरण को लगाने वाला कोई विरलाही होता है ॥ ५ ॥

धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा।
कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि ॥ ६ ॥

धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में सकल प्राणियों का चित्त गुथा हुआ है तथा जन्म मरण के दुःख से भी सब ही भय मानते हैं परन्तु ज्ञानी पुरुषका मन इन धर्मादिकों में नहीं बँधता है ज्ञानी इन धर्मादिकों को न सुखरूप मानकर ग्रहण ही करता है और न दुःखरूप मानकर त्यागता ही है तथा जीवन मरण से भी अपना कुछ हानि लाभ नहीं समझता है, परन्तु ऐसा उदारचित्त ज्ञानी कोई विरला ही होता है ॥ ६ ॥

वाञ्छा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ।
यथा जीविकया तस्माद्धन्य आस्ते यथा सुखम् ॥७॥

हे जनक ! ज्ञानिको न इस विश्व की प्रलय होने की ही इच्छा होती है और यह संसार बना रहे तो उसको द्वेष नहीं होता है, क्योंकि—यह जानता है, कि—सदा सर्वत्र एक ब्रह्मकी ही झांकी हो रही है। ऐसे महाभाग को शरीर धारण के लिये प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाता है उसमें ही परमसुख मानकर आत्मस्वरूप में मग्न रहता है ऐसा महात्मा जगत् में धन्य है ॥ ७ ॥

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीःकृती।
पश्यञ्छृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम् ८

"तत्वमसि" आदि महावाक्यों के द्वारा ज्ञानको पाकर मैं कृतार्थ होगया, ऐसा निश्चय होजाने पर जिस की शरीर आदि में आत्मबुद्धि नष्ट होगयी है वह ज्ञानी देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूँघता हुआ और भोजन करता हुआ भी उनमें आसक्त न होकर परम आनन्द के साथ आत्मस्वरूप में मग्न रहता है ॥ ८ ॥

शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा विकलानीन्द्रियाणि च।
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे ॥ ९ ॥

जिस ज्ञानी का संसारसागर क्षीण होजाता है उसको विषय-भोगों की इच्छा नहीं रहती है और उसको विषयों से अरुचि भी

नहीं होती है क्योंकि-उस ज्ञानीकी दृष्टि कहिये मनका व्यापार शून्य अर्थात् सङ्कल्प विकल्पसे रहित होता है। चेष्टा कहिये शरीर का व्यापार वृथा (फलकी इच्छासे रहित) होजाता है और नेत्र आदि इन्द्रियें विकल होजाती हैं, कि—जिससे वह पास आये हुए विषयों को भी यथार्थरूपसे नहीं जानता है। श्रीकृष्णभगवान्ने भी गीतामें कहा है—"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥" सकल भूतोंकी जो रात है अर्थात् आत्मज्ञानके विषयमें सब प्राणी सोये रहते हैं इस कारण वह उनकी रात्रि है, उस आत्मज्ञानके विषयमें विवेकी पुरुष जागता है और जिस अज्ञानरूप दिनमें सब प्राणी जागते हैं उसमें विद्वान् सोया रहता है ॥ ९ ॥

न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति ।
अहो परदशा कापि वर्त्तते मुक्तचेतसः ॥१०॥

हे जनक! विद्वान् ऐसे अज्ञानरूप दिनमें नहीं जागता है, क्योंकि-जो जागता है वह नेत्रोंके पलकोंको खोलता है अर्थात् बाहरी विषयों को देखता है और उन का स्मरण भी करता है, परन्तु ज्ञानी बाहरी विषयों को न देखता ही है और न उनका स्मरण ही करता है, इस कारण वह जागता नहीं है। वह सोता भी नहीं है, क्यों कि—सोने वाला नेत्रोंके पलकों को मूँद लेता है, इससे बाहरके किसी पदार्थको नहीं देखता है, परंतु विद्वान् ऐसा नहीं होता है, वह तो बाहरके सब विषयोंको ब्रह्मरूपसे देखता है, उस शान्तचित्तवाले ज्ञानीकी तो एक अद्भुत दशा होती है, उसकी उत्तम तुरीयदशाका तो इस मुखसे वर्णन ही नहीं होसकता, उसको तो न खुले नेत्रोंवाला कहसकते हैं, न मुँदे ही नेत्रोंवाला कहसकते हैं ॥ १० ॥

सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः ।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते ॥ ११ ॥

हे जनक! जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष सुख दुःख आदि सब दशाओंमें स्वस्थचित्त देखनेमें आता है। अज्ञानी सुखमें प्रसन्नता और दुःखमें शोक मानता है परन्तु ज्ञानी सुख दुःखको एकसमान मानकर आत्मानन्दमें ही मग्न रहता है। अज्ञानी मित्रसे प्रेम और शत्रुसे द्वेष करता है, परन्तु ज्ञानीका अन्तःकरण शत्रु मित्र दोनोंमें निर्मल (समान भाववाला) होता है। ऐसा आत्मज्ञानी सकल विषयवासनाओंसे

शून्य होकर सब अवस्थाओंमें आत्मस्वरूपमें विराजमान एकरस रहता है ॥ ११ ॥

पश्यञ्छृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गृह्णन् वदन् व्रजन् ।
ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः ॥ १२ ॥

सर्वत्र देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, ग्रहण करता हुआ, भोजन करता हुआ, कहता हुआ तथा गमन करता हुआ भी राग और द्वेषसे रहित होकर ब्रह्मके विषें चित्त लगानेवाला पुरुष मुक्त ही है ॥ १२ ॥

न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति ।
न ददाति न गृह्णाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः ॥१३॥

जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषकी किसीमें भी आसक्ति नहीं होती है, इस कारण उसका कोई निरादर करे तो उसकी निन्दा नहीं करता, कोई उसका आदर करे तो उसकी प्रशंसा नहीं करता, अच्छा भोजन आदि मिलजाय, तो प्रसन्न नहीं होता, कोई सूखा बासी खिलादेय तो कोप नहीं करता, शरीर निर्वाहसे अधिक किसीसे लेता नहीं और एकसे लेकर दूसरेको देता नहीं वह तो सदा आत्मस्वरूपमें मग्न रहता है ॥ १३ ॥

सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युम्वा समुपस्थितम् ।
अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः ॥१४॥

परमप्रीति करनेवाली स्त्रीको पास आयी हुई देखकर जिसके मन में कामवासना नहीं होती और विकराल रूप कालको समीप आया हुआ देखकर जिसके मनमें व्याकुलता नहीं होती किन्तु जो सर्वदा अपने स्वरूपमें ही स्थिर रहता है वह ब्रह्मज्ञानी ही जीवन्मुक्त है १४

सुखे दुःखे नरे नार्यां सम्पत्सु च विपत्सु च ।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः ॥ १५ ॥

जिसका मन सुख दुःखमें एकसमान रहता है, जो पुरुष और स्त्रीको एकसमान मानता है, जो सम्पत्तिमें प्रसन्नता और विपत्ति में शोक नहीं करता है वह सर्वत्र समानदृष्टि रखनेवाला ही मुक्त है

न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता ।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे ॥ १६ ॥

जिस पुरुषका संसार क्षीण होजाता है अर्थात् देहाभिमान दूर होजाता है, उसका जन्ममरणरूप बन्धन दूर होजाता है वह किसी से द्रोह नहीं करता है, किसी के ऊपर दयाभाव नहीं दिखाता है, उसमें उद्धतपना नहीं होता है, दीनता नहीं होती है, उसको कभी आश्चर्य नहीं होता और न कभी क्षोभ ही होता है ॥ १६ ॥

न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः ।
असंसक्तमना नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपासते ॥ १७ ॥

जीवन्मुक्त पुरुष विषयोंसे द्वेष (त्याग) नहीं करता है और विषयों में लोलुप कहिये आसक्त भी नहीं होता है, किसी समय भी कहीं मनको आसक्त नहीं करता है, जो प्रारब्धवश प्राप्त होजाता है उसको भोगता है और जो प्राप्त नहीं होता उसकी इच्छा नहीं करता है ॥१७॥

समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः ।
शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः १८

शून्य है चित्त जिसका ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष, विदेह कैवल्य दशा को प्राप्त हुआसा, समाधान (हित) और असमाधान (अहित) की कल्पनाको नहीं जानता है, क्योंकि-उसका मन ब्रह्माकार होजाता है१८

निर्ममो निरहङ्कारो न किञ्चिदिति निश्चितः ।
अन्तर्गलितसर्वाशःकुर्वन्नपि करोति न ॥ १६ ॥

हे जनक ! स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं, ऐसी ममता जिसकी दूर होगयी है तथा मैं शरीर आदि रूप हूं ऐसा अहङ्कार भी जिसका दूर होगया है तथा अधिष्ठान चेतन ब्रह्मके सिवाय दूसरी वस्तु है ही नहीं, ऐसा निश्चय जिसको होगया है और जिसकी भीतरकी सब आशायें नष्ट होगयी हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुष प्रारब्धानुसार विषयभोग करता हुआ भी मानो नहीं करता है, क्योंकि—उसको उसमें कर्तृत्वका अभिमान नहीं होता है ॥ १९ ॥

मनःप्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः ।
दशां कामपि सम्प्राप्तः भवेद् गलितमानसः २०

हे जनक ! जिसके मन में मोह नहीं रहता है उस ज्ञानी के मन में सङ्कल्प विकल्प आदि नहीं फुरते हैं उसका स्त्री पुत्रादि में मोह नहीं

रहता है उस के चित्त का प्रवाह आत्मविचार में को दौड़ता है, उसकी जड़ता दूर होजाती है उस ज्ञानी की अनिर्वचनीय दशा होजाती है कि—जिसका भेद कोई नहीं पाता ॥ २० ॥

सप्तदश प्रकरण समाप्त

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्भवति भ्रमः।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे ॥ १ ॥

शान्ति की प्रधानता का वर्णन करते हुए अष्टावक्रजी पहिले शान्त-रूप परमात्मा को प्रणाम करते हैं कि—जिसके ज्ञानका उदय होते ही तत्काल यह प्रत्यक्ष दीखने वाला संसार स्वप्न की समान भासने लगता है उस सुखरूप, शान्त तेजःस्वरूप अद्वितीय आत्माको प्रणाम है ॥ १ ॥

अर्जयित्वाखिलानर्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान्।
न हि सर्वपरित्यागमन्तरेण सुखी भवेत् ॥ २ ॥

धनी पुरुष भी सुखी देखे जाते हैं ? फिर ऐसा क्यों कहा ? तहाँ कहते हैं, कि—पुरुष अन्न, धन, स्त्री, पुत्र आदि सकल पदार्थों को पाकर अनेकों प्रकार के भोगों को भोगता है, परन्तु उनमें सुख नहीं मिलता, क्योंकि—एक दिन भोगोंका नाश होने पर अवश्य ही, दुःख होता है, इसलिये सकल सङ्कल्प विकल्पों का त्याग किये बिना कभी सुखकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती ॥ २ ॥

कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम् ॥ ३ ॥

मिथ्यारूप सङ्कल्प विकल्पोंको हेय जान लेना ही सङ्कल्प विकल्पका त्याग है जैसे वन्ध्यापुत्र को मिथ्या जानलेना ही उसका त्याग है क्योंकि मिथ्यापदार्थका और किसी प्रकारका त्याग हो ही नहीं सकता। इस बातको ही प्रकारान्तर से दिखाते हुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—नाना प्रकारके कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले दुःखरूप सूर्यकी लपटोंसे जिसका अन्तःकरण झुलस गया है ऐसे संसारी जीवको सङ्कल्प विकल्पोंकी शान्तिरूप अमृतधाराकी वर्षा हुए बिना सुख कहांसे मिलसकता है?

भावोऽयं भावनामात्रो न किञ्चित्परमार्थतः।
नास्त्यभावः स्वभावानां भावाभावविभाविनाम् ४

हे जनक ! यह जगत् सङ्कल्पमात्र है, परमार्थदृष्टिसे तो एक आत्मा के सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं । शङ्का होती है, कि— भावरूप जो दीखता हुआ जगत् है, यह नाश होनेके अनन्तर अभावरूप शून्य होजाता है, इससे तो शून्यवादीका मत सिद्ध होजायगा, इसके उत्तरमें कहते हैं, कि—सङ्कल्प विकल्प मात्र जगत्का नाश होनेके अनन्तर सत्यस्वभाव आत्मा अखण्डरूप से विराजमान रहता है, फिर शून्यवादीका मत कहाँ रहा? । भावरूप और अभावरूपमें स्थित स्वभावोंका अभाव कभी हो ही नहीं सकता अर्थात् अभाव पदार्थका कभी भाव नहीं होता और भाव पदार्थका कभी अभाव नहीं होता, जैसे कि-मनकी कल्पनाके और स्वप्नके पदार्थों का कभी भाव नहीं होता है,जैसे मनोराज्य और स्वप्नके पदार्थ कल्पना-मात्र हैं तैसे ही जाग्रत्के सब पदार्थ भी कल्पनामात्र हैं, सङ्कल्प-विकल्पके दूर होनेसे संसाररूप ताप भी दूर होजाता है । केवल सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही रहता है ॥ ४ ॥

न दूरं न च सङ्कोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम् ।
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरञ्जनम् ॥५॥

सङ्कल्प विकल्पके दूर होते ही अमृततत्त्वकी प्राप्ति किसप्रकार होती है, इस बातको दिखाते हुए अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—हे जनक ! आत्मा किसी से दूर नहीं है और परिच्छिन्न भी नहीं है, किंतु सर्वत्र व्यापक होनेसे नित्यप्राप्त है । मनके सङ्कल्पके कारण अज्ञानी पुरुष आत्माको अप्राप्तसा मानते हैं । जैसे पुरुषके कण्ठमें मणियोंका कण्ठा पड़ा हो फिर भी वह भ्रमसे यह समझे कि—मेरा आभूषण कहीं खोयागया । यद्यपि उसको वह भूषण प्राप्त है,परंतु वह अप्राप्त-सा मानता है । ऐसे ही यह आत्मा सब पुरुषोंको प्राप्त है, परंतु अपने स्वरूपका ज्ञान न होनेके कारण सङ्कल्पवश अप्राप्तसा होरहा है । आत्मा विकल्पोंसे अतीत है अर्थात् मनके विकल्पोंका अभाव होने पर जाना जाता है वह विकारों और उपाधियोंसे शून्य सदा एकरस है ५

व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः ।
वीतशोका विराजन्ते निरावरणदृष्टयः ॥ ६ ॥

राजा जनकने कहा, कि—जब आत्मा नित्य ही प्राप्त है तो फिर शास्त्रके विचार और गुरुके उपदेशकी क्या आवश्यकता है ? इसके

उत्तरमें अष्टावक्रजी कहते हैं, कि—अज्ञानरूप मोहका जो परदा पड़ा हुआ है उसके कारणसे आत्मस्वरूपका प्रकाश नहीं होता है,इसकारण श्रेष्ठ गुरुके उपदेशसे उस मोहके दूर होतेही जिन्होंने आत्मस्वरूपको पालिया है वह ज्ञानी ही संसारमें शोकरहित होकर शोभायमान होते हैं और उनकी दृष्टि पर फिर मोहका परदा नहीं पड़ता है ॥ ६ ॥

समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत् ॥७॥

यह सब जगत् मनकी कल्पनामात्र है,आत्मा नित्यमुक्त सनातन है कभी बन्धनमें नहीं पड़ता, ज्ञानी पुरुष ऐसा जानकर क्या बालककी संमान संसारके व्यवहारमें आसक्त होता है? कदापि नहीं होता ॥७॥

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम् ८

यह आत्मा कहिये त्वम् पदका अर्थ जीवात्मा, तत्पदार्थ ब्रह्मरूप है अर्थात् दोनोंका अभेद है, इसप्रकार अधिष्ठानरूप ब्रह्मका निश्चय कहिये साक्षात्कार करके भाव कहिये घट आदि पदार्थ और उनका अभाव दोनों अधिष्ठान चेतनमें कल्पित हैं, इसप्रकार सब जगत्को मिथ्या जानकर जिसकी अविद्या नष्ट होगयी है वह क्या जानता है? क्या कहता है? और क्या करता है? अर्थात् वह मनके ब्रह्माकार होजानेके कारण न कुछ जानाता है, न कुछ कहता है और न कुछ करता है, किन्तु वह कर्तृत्व आदिके अभिमानसे रहित होकर आत्मस्वरूपमें स्थित होता है ॥ ८ ॥

अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पनाः।
सर्वमात्मेति निश्चित्य तूष्णींभूतस्य योगिनः ९

यह सब जगत् आत्मस्वरूप ही है, ऐसा निश्चय करके जो मुनियों के व्रतरूप योगदशाको प्राप्त होगया है अर्थात् जिसने मनको सकल वृत्तियोंसे रहित करके ब्रह्माकार कर लिया है उसको अपना तथा परायेका ज्ञान नहीं रहता है अर्थात् मैं ध्यान करता हूँ, दूसरे पुरुष और काम करते हैं ऐसा भेदभाव दूर होजाता है (कल्पनामात्र नष्ट होजाती है) ॥ ९ ॥

न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढता।

न सुखं न च वा दुःखमुपशान्तस्य योगिनः १०

हे जनक ! जिस साधकका मन सङ्कल्प विकल्पसे रहित होकर शान्तिको प्राप्त होजाता है, उस शान्तस्वभाव योगीके मनको कुछ विक्षेप नहीं होता है, न वह एकाग्रताके लिये ही उद्योग करता है, उसको पदार्थोंका अत्यन्त ज्ञान या मूढता नहीं होती है, उसको विषय-जन्य सुख या विषयवियोग या दुःख नहीं होता है, वह तो केवल आत्मस्वरूपमें मग्न रहता है ॥ १० ॥

स्वराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ च लाभालाभे जने वने ।
निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः ११

सङ्कल्प विकल्परहित स्वभाववाले ज्ञानयोगी को स्वर्गका राज्य मिलने पर हर्ष नहीं होता, भीख मांग कर निर्वाह करनेमें दुःख नहीं होता, कुछ मिल जाय तो प्रसन्नता नहीं होती, कुछ न मिले तो शोक नहीं होता, भीड़भाड़में रहना पड़े तो उल्लास नहीं होता और वनमें निवास होने पर उदासी नहीं होती, क्योंकि-उसका मन तो ब्रह्माकार एकरस होता है ॥ ११ ॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिना।
इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य योगिनः॥ १२॥

यह मैंने करलिया और यह मैंने नहीं किया,इत्यादि द्वन्द्वोंसे रहित स्थिरचित्त ज्ञानयोगीके लिये धर्म कहां ? काम कहां ? अर्थ कहां ? और मोक्षका उपायरूप विवेक कहां ? अर्थात् इनसे उसको कुछ प्रयोजन नहीं होता है ॥ १२ ॥

कृत्यं किमपि नैवास्ति न कापि हृदि रञ्जना ।
यथा जीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः ॥१३॥

जीवन्मुक्त योगीको इस संसारमें कुछ भी कर्त्तव्य नहीं होता है और हृदयमें कुछ अनुराग भी नहीं होता है तथापि जीवन्मुक्त पुरुष जीवन के हेतु प्रारब्धके अनुसार कर्म करता है ॥ १३ ॥

क्व मोहः क्व च वा विश्वं क्व तद्ध्यानं क्व मुक्तता।
सर्वसङ्कल्पसीमायां विश्रान्तस्य महात्मनः ॥ १४॥

सकल सङ्कल्पविकल्पोंकी सीमा कहिये समाधिरूप आत्मज्ञानके विषें विश्रामको प्राप्त होनेवाले योगीको मोह कहां ? विश्व कहां ? विश्व का ध्यान कहां ? तथा मुक्तपना कहां ? अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होजानेके कारण उसके मनमें कोई फुरना ही शेष नहीं रहती है ॥ १४ ॥

येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै ।
निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति ॥१५॥

जिसने इस घट पट आदि विश्वको देखा है वह कदाचित् ऐसा ज्ञान लेय कि—घट पटादि विश्व नहीं है, परन्तु जिसको होने न होने की कुछ वासना ही नहीं है, वह विश्वका त्याग क्या करेगा ? वह तो विश्वको देखता हुआ भी नहीं देखता है ॥ १५ ॥

येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत् ।
किं चिन्तयति निश्चिन्तो द्वितीयं यो न पश्यति।१६।

जिसने सबसे अलग परब्रह्मको देखा है वह 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा चिन्तवन करे, परन्तु जो कहीं दूसरे को देखता ही नहीं वह निश्चिन्त क्या चिन्तवन करेगा ? अर्थात् जिसको द्वैतदृष्टि नहीं है उसको ब्रह्म का चिन्तवन करने की भी कुछ आवश्यकता नहीं है ॥ १६ ॥

दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ ।
उदारस्तु न विक्षिप्तः साध्याभावात्करोति किम्॥१७॥

जिसने अंतःकरणके विक्षेपको देखा है वह चित्त का निरोध भले ही करे परन्तु जो सर्वत्र एक ब्रह्मको ही देखता है उसको तो विक्षेप है ही नहीं इसलिये वह कुछ साधन भी नहीं करता है ॥ १७ ॥

धीरो लोकविपर्यस्तो वर्त्तमानोऽपि लोकवत् ।
न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्य पश्यति १८

संसारके विक्षेपोंसे रहित धीर पुरुष प्रारब्धवश संसारी लोगोंमें रहकर उनके ही समान व्यवहार करता हुआ भी अपने स्वरूपमें स्थित होता है, वह समाधि नहीं करता है, विक्षेप नहीं मानता है और अपनेमें लेप भी नहीं देखता है ॥ १८ ॥

भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः ।
नैव किञ्चित्कृतं तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता ॥१९॥

जो आत्मानन्दसे तृप्त रहता है, किसी की निन्दा स्तुति आदि नहीं करता है ऐसे वासनाशून्य ज्ञानीको लोग तो यह समझते हैं, कि-यह अनेकों प्रकारकी क्रियाएं करता है, परन्तु वह आसक्तिशून्य होनेके कारण करता हुआ भी मानो कुछ करता ही नहीं है ॥ १९ ॥

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः ।
यदा यत्कर्त्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम् ॥२०॥

ज्ञानीको प्रवृत्तिमें वा निवृत्ति में कुछ हठ नहीं होती है,क्योंकि उसको कर्तापने आदिका अभिमान नहीं होता है,प्रारब्धके अनुसार जो कुछ कर्तव्य आपड़ता है, उसको अनायास ही करके असङ्ग बना रहता है

निर्वासनो निरालम्बः स्वच्छन्दो मुक्तबन्धनः ।
क्षिप्तः संस्कारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत् ॥२१॥

राजाने कहा, कि-हे गुरो ! यदि ज्ञानी वासनाशून्य होता है तो वह कर्मोंको किसकी प्रेरणासे करता है ? अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे राजन् ! ज्ञानी वासनाशून्य होता है, उसको किसीका आश्रय नहीं लेना पड़ता है इसकारण ही वह स्वच्छन्द और राग द्वेषके बन्धनसे मुक्त होता है, परन्तु प्रारब्धके अनुसार जो प्राप्त होता है उसको करता है जैसे भूमि पर पड़ेहुए सूखे पत्तोंमें कहीं जानेकी वासना (सामर्थ्य) नहीं होती है, परन्तु जिधरका वायु आता है उधरको ही उड़ जाते हैं, ऐसे ही ज्ञानी संस्कार कहिये प्रारब्ध कर्मरूप पवन की प्रेरणाके अनुसार भोगकी चेष्टा करता है ॥ २१ ॥

असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता ।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते ॥ २२ ॥

हे जनक ! जिसमें संसारका हेतु सङ्कल्प विकल्परूप अज्ञानका कार्य नहीं होता है वह असंसारी कहलाता है, उसमें हर्ष विषाद उत्पन्न नहीं होते हैं, वह तो नित्य शीतलमन और विदेहमुक्तकी समान रहता है ॥ २२ ॥

कुत्रापि न जिहासास्ति नाशो वापि न कुत्रचित् ।
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः ॥२३॥

जो सदा अपने आत्मामें ही रमण करता है, उसका चित्त स्थिर रहता है, उसका अन्तःकरण परमपवित्र और शीतल होता है, उस को किसी वस्तुके त्यागने या ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं रहती है, क्योंकि-उसमें राग द्वेषका लेशमात्र भी नहीं होता है ॥ २३ ॥

प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया ।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता ॥२४॥

जिसका चित्त स्वभावसे ही शून्य है अर्थात् सङ्कल्प विकल्परूप विकारसे रहित है और प्रारब्धानुसार प्रवृत्ति निवृत्तिके कर्मोको अज्ञानी की समान करता है, परन्तु उससे उसको कुछ हर्ष शोक नहीं होता है और वह मान अपमानकी ओरको भी कुछ ध्यान नहीं देता है ॥ २४ ॥

कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा ।
इति चिन्तानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न ॥२५॥

यह सब कर्म शरीरने किया है,मैंने नहीं किया, क्योंकि—मैं शुद्ध-रूप साक्षीमात्र हूँ, जो ज्ञानी ऐसी भावना रखता है वह कर्म करता हुआ भी बन्धनमें नहीं पड़ता है, क्योंकि—उसको कर्त्तापनेका अभि-मान नहीं होता है ॥ २५ ॥

अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः ।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान्संसरन्नपि शोभते २६

कियेहुए कर्मको 'मैं करता हूँ' ऐसा न कहनेवाला जीवन्मुक्त पुरुष कर्म करता हुआ भी मूर्ख नहीं होसकता, क्योंकि—उसके अन्तः-करणमें ज्ञानका प्रकाश होता है, इसकारण ही संसारके व्यवहारों को करता हुआ भी वह प्रसन्न और शान्तचित्त होकर शोभा पाता है ॥ २६ ॥

नानाविचारसुश्रान्तो धीरो विश्रान्तिमागतः ।
न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति२७

हे जनक ! नानाप्रकार के विचारोंसे रहित हुआ ज्ञानी आत्मस्वरूप में ही विश्राम पाता है, वह सङ्कल्प विकल्प आदि मनके व्यापारोंको नहीं करता है, न जानता है, बुद्धिके व्यापारोंको नहीं करता है, शब्द को नहीं सुनता है और रूपको नहीं देखता है अर्थात् इन्द्रियोंके

व्यापारों को करता हुआ भी नहीं करता है, क्योंकि—उसको कर्त्ता-पनेका अभिमान नहीं होता है ॥ २७ ॥

असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः ।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः ॥२८॥

ज्ञानी मुमुक्षु नहीं होता है, क्योंकि—विक्षेप को दूर करने के लिये मुमुक्षु समाधि करता है, परन्तु ज्ञानी में विक्षेप नहीं होता इस कारण वह समाधि नहीं करता है उस में बन्ध भी नहीं होता है, क्योंकि-उसका द्वैतभ्रम नष्ट होगया है जिसको द्वैतभ्रम होता है उसको ही बन्धन होता है किन्तु यह सब दृश्यमान जगत् कल्पित है ऐसा निश्चय करके जगत् को बाधितानुवृत्ति से देखता है इस कारण वह निर्विकार चित्त होकर ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहता है ॥ २८ ॥

यस्यान्तः स्यादहङ्कारो न करोति करोति सः ।
निरहङ्कारधीरेण न किञ्चिद्धि कृतं कृतम् ॥ २९ ॥

राजा ने कहा कि—संसारको देखता हुआ भी ब्रह्मरूप कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—जिसके अन्तःकरण में अहङ्कारका अध्यास होता है वह लोकदृष्टि से न करता हुआ भी सङ्कल्प आदि को करता है । जैसे किसी धूनी रमाने वाले मौनी जटा-धारी को देखकर लोग कहते हैं, कि- यह महात्मा कुछ नहीं करते हैं केवल परमात्मा के ध्यान में ही मग्न रहते हैं परन्तु वह भीतर मन में अनेकों सङ्कल्प करते हैं । परन्तु निरहङ्कार ज्ञानी का व्यवहार ऐसा नहीं होता है, वह लोकदृष्टि से व्यवहार करता हुआ भी अपनी दृष्टि से नहीं करता है क्यों कि—कर्त्तापने का अभिमान न होनेके कारण उसको सङ्कल्प विकल्प उठतेही नहीं हैं ॥ २९ ॥

नोद्विग्नं न च सन्तुष्टमकर्त्तृ स्पन्दवर्जितम् ।
निराशं गतसन्देहं चित्तं मुक्तस्य राजते ॥ ३० ॥

हे जनक ! जीवन्मुक्त के प्रकाशमय चित्त में कभी घबड़ाहट नहीं होती है, उसका सङ्कल्प विकल्प से रहित चित्त किसी पदार्थ के मिलने से सन्तुष्ट भी नहीं होता है उस में कर्त्तापने के अभिमानका लेश भी नहीं होता है, उसका चित्त सकल प्रकार की आशायें और सन्देह से शून्य होकर परम शोभा पाता है ॥ ३० ॥

निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्त्तते।
निर्निमित्तमिदं किन्तु निर्ध्यायति विचेष्टते ॥३१॥

जिसका चित्त क्रियारहित होकर स्थित रहनेमें, वा सङ्कल्प विकल्प आदिरूप चेष्टा करनेमें प्रवृत्त नहीं होता है, किन्तु निर्निमित्त कहिये सङ्कल्पविकल्परहित होकर आत्मस्वरूपमें ही निश्चल भावसे स्थित रहता है, और अनेकों प्रकारकी भी चेष्टायें भी करता है॥ ३१॥

तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मन्दः प्राप्नोति मूढताम्।
अथवा याति सङ्कोचममूढः कोऽपि मूढवत् ॥ ३२ ॥

हे जनक ! कोई मूढपुरुष श्रुतिके द्वारा तत् और त्वम्-पदके कल्पित भेदको सुनकर भी असम्भव मानकर वा विपरीत ही समझकर और अधिक मूढ बनजाता है, अथवा तत् त्वम् पदके अभेदको जानने के लिये सङ्कोच कहिये चित्तकी समाधि लगाता है परन्तु ऐसा तो कोई विरला ही होता है, कि—जो भीतरसे शान्त चित्तवाला ज्ञानी होकर वाहरकी गतिसे मूढकी समान वाहरके व्यवहारों को करता है ॥ ३२ ॥

एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशम्।
धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत्स्वपदे स्थिताः॥३३॥

देहाभिमानी मूढ पुरुष मनको वशमें करने के लिये अनेकों प्रकार से एकाग्रता और निरोधका अभ्यास करते हैं, परन्तु उनका मन वश में नहीं होता है और जो आत्मज्ञानी धीरपुरुष हैं वह सोये हुए की समान आत्मस्वरूपमें स्थित होकर कोई कर्त्तव्य कार्य ही नहीं देखते, क्योंकि—अद्वैतज्ञानसे भ्रममात्रकी निवृत्ति होने के कारण उनका मन स्वभावसे ही स्थिर होकर वशमें होता है ॥ ३३ ॥

अप्रयत्नात्प्रयत्नाद्वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम्।
तत्त्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः ॥ ३४॥

जिसको आत्मज्ञान नहीं हुआ है वह मूढ है, वह चाहे चित्तकी निरोधरूप समाधि लगावे, चाहे कर्मोंका अनुष्ठान करै वह कदापि शान्ति सुखको नहीं पाता है और ज्ञानी तो आत्मस्वरूप का निश्चय करके परमशान्तिसुखको पाजाता है ॥ ३४ ॥

शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपञ्चं निरामयम् ।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः ३५

श्रेष्ठ गुरु और वेदान्त शास्त्रकी शरण लिये विना देहाभिमान दूर नहीं होता है, उस देहाभिमान से मन जगत् में आसक्त रहता है, ऐसे अभ्यासी पुरुष आत्माके स्वरूपको नहीं जानसकते हैं, क्योंकि-जो शुद्ध अर्थात् मायामलसे रहित, स्वप्रकाश सबका प्रिय, परिपूर्ण संसार की उपाधियोंसे तथा त्रिविध तापसे रहित है, उसको देहाभिमानी पुरुष कैसे जानसकता है? ॥ ३५ ॥

नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा।
धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः ॥ ३६॥

देहाभिमानी मूढ़पुरुष योगाभ्यासरूप कर्मके द्वारा मोक्ष नहीं पाता है, क्योंकि—श्रुति कहती है-" न कर्मणा न प्रजया धनेन ।" अर्थात् योगाभ्यास आदि कर्मसे, सन्तान उत्पन्न करनेसे वा धनसञ्चय कर लेनेसे मोक्ष नहीं होता है, यदि किन्हींको मोक्षकी प्राप्ति हुई है तो देहाभिमानरूप अविद्यामलको त्यागनेसे ही हुई है, इसकारण कोई विरला पुरुष ही आत्मज्ञानकी प्राप्ति होते ही सकल सङ्कल्प विकल्प आदिको त्यागता हुआ मुक्त होता है ॥ ३६ ॥

मूढो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति ।
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक् ॥२७॥

हे जनक ! मूढ़ पुरुष योगाभ्यासरूप कर्मसे ब्रह्मरूप होना चाहता है, इसकारण ही वह ब्रह्मको नहीं पाता है और ज्ञाता तो मोक्ष की इच्छा न करे तो भी परब्रह्मके स्वरूपको प्राप्त होता है, क्योंकि-उस ने देहाभिमानको दूर करादिया है॥ ३७ ॥

निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः ।
एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः॥ ३८ ॥

जो वृथा हठ करनेवाले मूढ़ पुरुष यह समझते हैं, कि—हम विना गुरुके उपदेश और बिना शास्त्रकी शिक्षाके केवल मनके निरोधरूप कर्मसे ही मोक्ष पाजायँगे, परन्तु इससे वह उलटी संसारकी पुष्टि ही करते हैं, क्योंकि—संसारको दूर करनेवाले ज्ञान का उनमें लेश भी

नहीं होता है और ज्ञानी पुरुषोंने तो जन्म मरणरूप अनर्थके मूल कारण इस संसारवृक्षको जड़मूलसे ही काट दिया है ॥ ३८ ॥

न शान्तिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति ।
धीरस्तत्त्वं विनिश्चित्य सर्वदा शान्तमानसः ॥३६॥

हे जनक ! मूढ़ कहिये देहाभिमानी पुरुष जिस योगाभ्याससे शांति चाहता है, उस योगाभ्याससे शान्तिको नहीं पाता है और ज्ञानी पुरुष तो आत्मतत्त्वका निश्चय करते ही, इच्छा न करके स्वाभाविक ही सदा शान्तचित्त रहता है ॥ ३९ ॥

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद् दृष्टमवलम्बते ।
धीरास्तं तं न पश्यन्ति पश्यन्त्यात्मानमव्ययम् ॥४०॥

जो अज्ञानी पुरुष इन दीखने वाले पदार्थों को सत्य माने हुए हैं उनको आत्माका साक्षात्कार कैसे होसकता है । कभी नहीं होसकता जो ज्ञानी पुरुष हैं वह इन दीखने वाले मिथ्या पदार्थों को नहीं देखते हैं, किन्तु इन में कारण शक्तिरूप चेतन आत्मा को देखते हैं, इसकारण वह सदा परमात्मा में लीन रहते हैं ॥ ४० ॥

क्व निरोधो विमूढस्य यो निर्बन्धं करोति वै ।
स्वारामस्यै वधीरस्य सर्वदासावकृत्रिमः ॥ ४१ ॥

जो देहाभिमानी अज्ञानी पुरुष केवल चित्तनिरोध में ही दुराग्रह रखता है उसके चित्त का निरोध कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं होसकता, क्योंकि—समाधि के अनन्तर अज्ञानी का चित्त फिर सङ्कल्पविकल्पयुक्त होजाता है, और आत्माराम धीर पुरुषको चित्तका निरोध स्वाभाविक ही होता है, क्योंकि—उसका चित्त सङ्कल्प विकल्पसे रहित, निश्चल और ब्रह्माकार होता है॥ ४१॥

भावस्य भावकः कश्चिन्न कश्चिद्भावकोऽपरः ।
उभयाभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः ॥४२॥

हे राजन् ! नैयायिक ऐसा मानते हैं, कि यह भावरूप प्रपञ्च परमार्थसे सत्य है, शून्यवादी कहते हैं कि—सब प्रपञ्च कुछ भी नहीं है अर्थात् शून्यरूप है और आत्माका अनुभव करनेवाला भी कोई

सहस्रोंमें एकाध होता है, जो भाव और अभाव दोनों की भावनाको त्याग स्वस्थचित्त होकर आत्मस्वरूपमें मग्न होता है ॥ ४२ ॥

शुद्धमद्वयमात्मानं भावयन्ति कुबुद्धयः ।
न तु जानन्ति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः ४३

कुबुद्धि कहिये खोटी बुद्धिवाले देहाभिमानी पुरुष, शुद्ध अद्वितीय आत्माका चिन्तवन करते हुए आत्माको जान नहीं सकते हैं, क्योंकि जिन का सांसारिक पदार्थों में का मोह दूर नहीं होता है उनके चित्त में निरन्तर सङ्कल्प विकल्प उठते रहने पर भी आत्मसाक्षात्कार से प्राप्त होने वाले सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती है ॥ ४३ ॥

मुमुक्षोर्बुद्धिरालम्बमन्तरेण न विद्यते ।
निरालम्बैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा ॥४४॥

जिसको आत्माका साक्षात्कार नहीं हुआ है ऐसे मुमुक्षु पुरुष की बुद्धि संसार के विषयों का सहारा लेती है और जीवन्मुक्त पुरुष की बुद्धि आत्माका आश्रय लेकर रहती है उस की मुक्तिके लिये भी इच्छा नहीं होती है ॥ ४४ ॥

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः ।
विशन्ति झटिति क्रोडं निरोधैकाग्रसिद्धये ॥४५॥

विषयरूप व्याघ्रोंको देखकर भयभीत हुए मूढ़ मुमुक्षु पुरुष, उन विषयोंसे अपनी रक्षा चाहते हुए चित्तका निरोध करके एकाग्रताकी सिद्धिके लिये बड़ी शीघ्रताके साथ गुफाओंमेंको चले जाते हैं, परन्तु ऐसा करनेसे उनका कार्य सिद्ध नहीं होता है, उन की अन्तःकरण की विषयवासना और फैलने लगती है, शान्ति न प्राप्त होकर प्रति दिन दुःख ही उठाना पड़ता है। परन्तु जीवन्मुक्त ज्ञानी विषयरूप व्याघ्रोंको इन्द्रजालके पदार्थकी समान मिथ्या जानकर उनसे भय नहीं मानता है ॥ ४५ ॥

निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः ।
पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः ॥ ४६॥

हे जनक ! विषयरूप हाथी वासना रहित पुरुषरूप सिंहको देखकर अपनेको असमर्थ मान चुपचाप भाग जाते हैं और संसारी पुरुष ईश्वर की प्रेरणासे प्रियभाषण करते हुए उसकी सेवा करते हैं ॥ ४६ ॥

न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशङ्को युक्तमानसः।
पश्यञ्छृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम् ॥

जिसके सब सन्देह दूर होगये हैं ऐसा निश्चल शङ्कारहित और निश्चल मनवाला जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष, यम नियम आदि योगसाधना को हठसे नहीं करता है, क्योंकि—उसको कर्त्तापनका अहङ्कार नहीं होता है, वह तो देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता और खाता हुआ भी तथा लोकदृष्टिसे सब क्रियाओंको करता हुआ भी आत्मानन्द में ही मग्न रहता है ॥ ४७ ॥

वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।
नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा प्रपश्यति ॥ ४८ ॥

हे राजन्! गुरुके उपदेश और वेदान्त शास्त्रके द्वारा आत्मास्वरूपके सुनने मात्रसे जिसकी बुद्धि शुद्ध अखण्डाकार होगयी है वह परम-शान्तिके साथ अपने स्वरूपमें स्थित हैं वह आचार, अनाचार वा उदासीनताकी ओरको दृष्टि नहीं देता है, क्योंकि—वह सदा आत्म-स्वरूपमें मग्न रहता है ॥ ४८ ॥

यदा यत्कर्त्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः।
शुभम्वाप्यशुभम्वापि तस्य चेष्टा हि बालवत् ।४६।

उसको जो शुभ वा अशुभ कर्म प्रारब्धके अनुसार करना पड़ता है उसको वह आसक्तिरहित होकर सरलभावसे करता है, क्योंकि-उस जीवन्मुक्तकी चेष्टा बालककी समान रागद्वेषसे रहित है ॥ ४९ ॥

स्वातन्त्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातन्त्र्याल्लभते परम्।
स्वातन्त्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत्स्वातन्त्र्यात्परमं पदम् ॥

स्वतन्त्रता कहिये राग द्वेषसे रहित होने पर पुरुष सुख पाता है, स्वतन्त्रतासे आत्मज्ञानको पाता है, स्वतन्त्रतासे नित्य सुखको पाता है और स्वतन्त्रतासे ही परमशांतिको पाता है ॥ ५० ॥

अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा।
तदा क्षीणा भवन्त्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः ॥५१॥

जब पुरुष वास्तवमें अपनेको अकर्ता और अभोक्ता मान लेता है अर्थात् कर्त्तापने और भोक्तापनेका अभिमान दूर होजाता है तब ही उसके चित्तकी सकल वृत्तियें क्षीण होजाती हैं और वह परमशान्ति पाता है ॥ ५१ ॥

उच्छृंखलाप्यकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते ।
न तु संस्पृहचित्तस्य शान्तिर्मूढस्य कृत्रिमा ॥५२॥

हे जनक ! जिस पुरुषके चित्तमें किसी प्रकारकी इच्छा नहीं होती है उस ज्ञानीकी शान्तिरहित भी स्वाभाविक दशा शोभा पाती है, क्योंकि—उसमें कुछ बनावट नहीं होती है और जिसका चित्त अनेकों अभिलाषाओंसे व्याकुल रहता है उसकी बनावटी शान्ति भी शोभायमान नहीं होती है ॥ ५२ ॥

विलसन्ति महाभोगैर्विशन्ति गिरिगह्वरान् ।
निरस्तकल्पना धीरा अवद्धा मुक्तबुद्धयः ॥५३॥

जिन ज्ञानियों के चित्तकी सकल कल्पनायें नष्ट होगयी हैं, जो आसक्तिरहित हैं और जिनकी बुद्धिमें अभिमानका लेश भी नहीं है वह ज्ञानी पुरुष कभी प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए बड़े २ भोगों में विलास करते हैं और कभी प्रारब्धवश पहाड़ों के गहन वन और गुफाओंमें चले जाते हैं, उनका चित्त दोनों दशा में शान्त रहता है ॥ ५३ ॥

श्रोत्रियं देवतां तीर्थमङ्गनां भूपतिं प्रियम् ।
दृष्ट्वा सम्पूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना ५४

उन जीवन्मुक्त ज्ञानियोंके चित्त में कोई वासना उत्पन्न नहीं होती है, वेदपाठी ब्राह्मणको देखकर, इन्द्र आदि देवताओंका पूजन करके, गङ्गा आदि तीर्थों में स्नान करके सुन्दर स्त्री राजा और पुत्र मित्र आदि प्रिय पुरुषों से मिलकर उनके, चित्त में कोई वासना खड़ी नहीं होती है, क्योंकि-वह सब देश और सब समय में एकरस रहते हैं ॥५४॥

भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः ।
विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक् ॥

सेवक, पुत्र, स्त्री, धेवते तथा अन्य गोत्र के पुरुष यदि उस जीवन्मुक्त योगीका हास्य करके उस को धिक्कार दें तो उसका मन

जरा भी क्षोभ को नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि--उसको तो निन्दा और स्तुति एकसमान होते हैं ॥ ५५ ॥

सन्तुष्टोऽपि न सन्तुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते।
तस्याश्चर्यदशान्तां तां तादृशा एव जानते ५६

ज्ञानी लोकदृष्टि में सन्तुष्ट हो तो हर्ष नहीं मानता है और लोक दृष्टि में खिन्नसा दीखे तो वह खेद नहीं मानता है, ऐसे ज्ञानीकी आश्चर्य भरी लीला को ऐसे ज्ञानी ही जानते हैं ॥ ५६ ॥

कर्त्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः ॥

मुझे यह काम अवश्य ही करना चाहिये ऐसे निश्चय का ही नाम संसार है, परन्तु जो सकल विश्वका नाश होने परभी अपने सत्स्वरूप में रहते हैं, जो घट आदि किसी आकार में बँधेहुए नहीं हैं, जो सकल विकार से रहित और सङ्कल्प विकल्प रूप रोग से रहित हैं वह उस कर्त्तव्यता की ओर को देखते भी नहीं ॥ ५७ ॥

अकुर्वन्नपि संक्षोभाद्व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः ५८

मूढ है बुद्धि जिसकी ऐसा अज्ञानी पुरुष शून्य मंदिर और वन पर्वत आदि एकान्त स्थानोंमें जाकर शरीर इन्द्रिय आदिके व्यापारोंका करना छोडकर भी अनेकों सङ्कल्प विकल्पोंके कारणसे व्याकुलचित्त ही रहता है और जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष लोकदृष्टिसे सकल कार्योंको करता हुआ भी शांतचित्त ही रहता है, क्योंकि—वह तो सङ्कल्पशून्य होकर आत्मसुखमें मग्न होता है ॥ ५८ ॥

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च।
सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते व्यवहारेऽपि शान्तधीः ५९

आत्मनिष्ठ बुद्धिवाला ज्ञानी प्रारब्ध कर्मके अनुसार व्यवहारमें लगा रहकर भी सुखसे बैठता है, सुखसे सोता है, सुखसे आता है, सुखसे जाता है, सुखसे बोलता है और सुखसे भोजन करता है अर्थात् इंद्रियोंके व्यापारोंको करता हुआ भी आसक्तिरहित होनेके कारण सदा शान्तचित्त रहता है ॥ ५९ ॥

स्वभावाद्यस्य नैवार्त्तिर्लोकवद्व्यवहारिणः।

महाह्रद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः सुशोभते ॥ ६० ॥

जिस ज्ञानी पुरुषको व्यवहार करते हुए स्वभावसे ही संसारी पुरुषोंकी समान खेद नहीं होता है वह ज्ञानी बड़ेभारी जलके अथाह सरोवरकी समान निश्चल और निर्विकार रहकर शोभा पाता है ॥६०॥

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते ।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी ॥ ६१ ॥

देहाभिमानी पुरुष यदि इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरको जानेसे रोके तो भी उसकी प्रवृत्ति ही रहती है, क्योंकि—अहङ्कारके कारण उस के चित्तमें से विषयवासना दूर नहीं होती है ज्ञानिकी लोकदृष्टिमें प्रवृत्ति भी वास्तवमें निवृत्ति ही है, क्योंकि—ज्ञानीको 'मैं करता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं होता है ॥ ६१ ॥

परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते ।
देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता ६२

जो देहाभिमानी अज्ञानी है उसको प्रायः मोक्ष पानेकी इच्छा करके धन, धाम, स्त्री, पुत्र आदिमें विरक्त होते हुए देखते हैं, परंतु जिसकी आशाओंका सर्वथा नाश होगया है अर्थात् जिसमें देहाभिमानाका लेश भी नहीं है उसको देहके संबंधी स्त्री पुत्र धन आदिमें न राग ही होता है न वैराग्य ही होता है ॥ ६२ ॥

भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढस्य सर्वदा ।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टिरूपिणी ।६३।

देहाभिमानी मूढ पुरुषकी दृष्टि सदा सङ्कल्प विकल्पोंमें आसक्त होती है और आत्मस्वरूपमें निष्ठावाले ज्ञानीकी दृष्टि यद्यपि सङ्कल्प-विकल्पोंसे युक्तसी दीखती है, परंतु वास्तवमें वह सङ्कल्प विकल्प के लेपसे शुद्ध होती है, क्योंकि-उसमें अभिमानका लेश भी नहीं होता है ॥ ६३ ॥

सर्वारम्भेषु निष्कामो यश्चरेद्बालवन्मुनिः ।
न लेपस्तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्मणि ६४

हे जनक ! जो ज्ञानी पुरुष बालककी समान निष्काम होकर प्रारब्ध-वश प्राप्त हुए कर्मोंमें प्रवृत्त होता है उस अहङ्काररहित शुद्ध ज्ञानी

को कर्म करनेपर भी कर्त्तापनेका दोष नहीं लगता है, क्योंकि—उस को कर्त्तापनेका अभिमान नहीं होता है ॥ ६४ ॥

स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्निस्तर्षमानसः॥

हे राजन् ! वही आत्मज्ञानी धन्य है, जो सकल पदार्थोंमें एकसमान आत्मबुद्धि रखता है, इसकारण ही वह देखता, सुनता, स्पर्श करता सूँघता और भोजन करता हुआ भी सदा तृष्णासे रहित होता है॥६५॥

क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम्।
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्य सर्वदा॥६६॥

जो धीर ज्ञानी सदा सङ्कल्प विकल्पोंसे रहित होता है, उसको संसार कहाँ ? और संसारका भान कहाँ ? स्वर्ग आदि क्या ? और स्वर्ग आदिके लिये किये जानेवाले यज्ञादि साधन क्या ? क्योंकि—वह तो सदा आकाशकी समान निर्लेप और कल्पनारहित है ॥ ६६ ॥

स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्त्तते ॥६७॥

हे जनक ! जो अर्थसंन्यासी कहिये इस लोक और परलोकके पदार्थोंकी कामनासे रहित है वही पूर्णस्वरूप वाला है उसकी ही समाधि सदा आत्मस्वरूपमें स्वाभाविक स्थिर रहती है उसकी ही जगतमें सदा जय होती है ॥ ६७ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्त्वो महाशयः।
भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः ॥६८॥

हे राजन् ! इस विषयमें अधिक कहनेकी क्या आवश्यकता है ? जो महात्मा ज्ञानतत्त्व कहिये आत्मतत्त्वको जाननेवाला, आत्मस्वरूप में मग्न, भोग तथा मोक्षकी इच्छासे रहित और यज्ञ याग आदिमें कभी राग नहीं रखता है वही ज्ञानी और जीवन्मुक्त है ॥ ६८ ॥

महदादि जगद् द्वैतं नाममात्रविजृम्भितम्।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते ॥ ६९ ॥

हे राजन् ! द्वैतरूपसे भासनेवाले और नाममात्र ही भिन्न २ प्रतीत होनेवाले महत्तत्त्व आदि की जगत्में कल्पनाको त्यागकर स्वप्रकाश

चैतन्यस्वरूप ज्ञानीको क्या कोई काम करना शेष रहता है ? अर्थात् कोई काम करना शेष नहीं रहता है ॥ ६९ ॥

भ्रमभूतमिदं सर्वं किञ्चिन्नास्तीति निश्चयी ।
अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति ॥७०॥

हे जनक ! अधिष्ठानका साक्षात्कार होने पर यह सब विश्व भ्रम-मात्र है, वास्तवमें कुछ भी नहीं है, ऐसा निश्चय जिसको होगया है। यह स्वप्रकाश, चेतनरूप तथा स्वरूपके साक्षात्कारसे दूर होगया है अज्ञानरूप मल जिसका वह पुरुष स्वभावसे ही शांत होजाता है अर्थात् फिर उसको शांतिके लिये कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रहता है॥७०॥

शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः ।
क्व विधिः क्व च वैराग्यं क्व त्यागः क्व शमोऽपि वा॥

हे जनक ! शुद्धस्वरूप, स्वप्रकाश, चेतनरूप और इस दीखनेवाले प्रपञ्चकी ओरको दृष्टि न रखकर केवल आत्मस्वरूपको ही देखनेवाले को किसी कर्मको करनेकी विधि कहाँ ? किसी विषयमें वैराग्य कहाँ? किसी पदार्थका त्याग कहाँ ? तथा शान्ति पानेके लिये जाना कहाँ ? यह सब बातें तो तब हों, कि-जब सांसारिक पदार्थों की ओर दृष्टि हो७१

स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिञ्च न पश्यतः ।
क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादता॥

हे जनक ! ज्ञानी तो अनंतरूप से भासता है, वह आत्मस्वरूपके विषें ही मग्न रहता है, आत्मामें कार्य सहित मायाको नहीं देखता है, उस को संसारका बंधन कहाँ और मोक्षकी इच्छा कैसी ? हर्ष कहाँ ? और विषाद कहाँ ? ॥ ७२ ॥

बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्त्तते ।
निर्ममो निरहङ्कारो निष्कामः शोभते बुधः ॥७३॥

हे जनक ! जब तक आत्मज्ञान नहीं होता तब तक ही यह संसार भासता है और जब ज्ञानके द्वारा यह मायामात्र (अज्ञानमात्र)निवृत्त होजाता है तब ज्ञानस्वरूप आत्मा ही शेष रहता है, ऐसे निश्चयवाले जीवन्मुक्तको इस संसार में ममता, अहङ्कार तथा इच्छा नहीं रहती और वह ब्रह्माकार वृत्तिसे परमशोभा पाता है ॥ ७३ ॥

अक्षयं गतसन्तापमात्मानं पश्यतो मुनेः ।

क्व विद्या क्व च वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा॥

हे जनक! अविनाशी और संतापरहित आत्माका साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानीकी दृष्टिमें न विद्या होती है, न संसार होता है न यह शरीर होता है और न अहं-मम—भाव होता है, क्योंकि उसको तो आत्माके सिवाय और कुछ भासता ही नहीं है ॥ ७४ ॥

निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि।
मनोरथान् प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोत्यतत्क्षणात् ७५

हे राजन्! यदि देहाभिमानी मूढ़बुद्धि पुरुष बड़ा परिश्रम करके मनका निरोध आदि करता है, परंतु उस निरोधसमाधिके छूटते ही उस का मन फिर अनेकों प्रकारके सङ्कल्प विकल्प और प्रलापोंको करने लगता है, इस कारण ज्ञानके विना निरोधसे कुछ लाभ नहीं होता है ॥ ७५ ॥

मन्दः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम्।
निर्विकल्पो बहिर्यत्नादन्तर्विषयलालसः ॥ ७६ ॥

हे राजन्! देहाभिमानी मूढ़ पुरुष गुरुके उपदेश और वेदान्त शास्त्र की अनेकों शिक्षाओं के द्वारा उस आत्मपदार्थ को सुनकर भी देहाभिमानरूप अपनी मूढ़ता को नहीं त्यागता है, वह बड़े परिश्रम से बाहरी विषयव्यापार को त्याग देने पर भी मनमें अनेकों विषयोंको भोगने के मनोरथ किया करता है ॥ ७६ ॥

ज्ञानाद्गलितकर्मा यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत्।
नाप्नोत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किञ्चन॥ ७७ ॥

हे राजन्! लोकाचारके लिये कर्म भले ही किया करे परन्तु ज्ञान के प्रताप से जिसकी कर्मका फल पानेकी इच्छा नष्ट होगयी है, वह केवल आत्मस्वरूप में ही मग्न रहता है, इस कारण उसको कर्म करनेका या संसारी बातें करनेका अवसर ही नहीं मिलता है ॥ ७७॥

क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किञ्चन।
निर्विकारस्य धीरस्य निरातङ्कस्य सर्वदा ॥ ७८ ॥

हे जनक! जिसके मोह आदि सब विकार दूर होगये हैं उसको काल आदि का भय नहीं होता है उसकी दृष्टि में तम कहाँ और प्रकाश कहाँ? हानि वा लाभ कहाँ? वह तो सर्वदा असङ्ग होता है॥७८

क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातङ्कतापि वा।
अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः ७६

जिसके स्वभाव का कोई वर्णन ही नहीं करसकता, वास्तव में जिसका कुछ स्वभाव (कर्त्तव्य) होता ही नहीं उस ज्ञानीको विवेक पन कहाँ ? धैर्य कहाँ ? और निर्भयपना कहाँ ? वह तो सदा आनन्द-रूप एकरस रहता है ॥ ७९ ॥

न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि।
बहुनात्र विमुक्तेन योगदृष्ट्या न किञ्चन ॥८०॥

अधिक क्या कहें, जीवन्मुक्त की ज्ञानदृष्टि में न स्वर्ग है, न नरक है तथा जीवन्मुक्ति भी नहीं है क्योंकि—वह आत्माके सिवाय और कुछ देखता ही नहीं है ॥ ८० ॥

नैव प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति।
धीरस्य शीतलं चित्तमसृतेनैव पूरितम् ॥ ८१ ॥

हे राजन् ! जो आत्मज्ञानको पाजाता है, वह कुछ लाभ की प्रार्थना नहीं करता है और लाभ न हो तो कुछ शोक नहीं करता है इस कारण ही ज्ञानीका चित्त ज्ञानामृत से भरा हुआ और शीतल (तापत्रयशून्य) होता है ॥ ८१ ॥

न शान्तं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निन्दति।
समदुःखसुखस्तृप्तः किञ्चित्कृत्यं न पश्यति ॥८२॥

हे जनक ! कामनाओंसे शून्य ज्ञानी पुरुष, शान्ति आदि शुद्ध गुणोंसे युक्तकी स्तुति नहीं करता है और दुष्ट पुरुषकी निन्दा नहीं करता है, क्योंकि—वह ज्ञानरूप अमृतसे तृप्त रहता है, सुख दुःखको समान समझता है तथा किसी संसारी कार्य की ओरको देखता ही नहीं है ॥ ८२ ॥

धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति॥ ८३॥

हे जनक! जीवन्मुक्त ज्ञानी संसारके साथ द्वेष नहीं करता है, ज्ञाना-वस्थाका परिपाक होजाने पर वह आत्माको भी नहीं देखना चाहता

है, क्योंकि–वह स्वयं आत्मस्वरूप है, इसकारण ही वह हर्ष शोक और जन्म मरणसे रहित होता है ॥ ८३ ॥

निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च।
निश्चिन्तः स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः ८४

हे राजन्! जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष पुत्र स्त्री आदि परिवारमें स्नेहसे रहित, विषयोंको भोगनेकी कामनासे शून्य और अपने शरीरके लिये भोजन आदि की चिन्ता भी न करनेवाला होता है तथा इसप्रकार सकल आशाओं से रहित होकर परमशोभा पाता है ॥ ८४ ॥

तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथा पतितवर्त्तिनः।
स्वच्छन्दं चरतो देशान् यत्रास्तमितशायिनः ८५

प्रारब्धके अनुसार जो कुछ भी मिल जाय उससे ही निर्वाह करने वाले ज्ञानीको सब दशाओंमें परम सन्तोष होता है, वह सब देशोंमें स्वच्छन्द होकर विचरता है और जहां सूर्य अस्त होजाय तहां ही सो रहता है ॥ ८५ ॥

पततूदेतु वा देहो नास्य चिन्ता महात्मनः।
स्वभावभूमिविश्रान्तिविस्मृताशेषसंसृतेः ॥ ८६ ॥

शरीरपात होजाय चाहे शरीर बना रहे परंतु अपने स्वरूप भूमिमें विश्राम करके सकल संसारको भूलजानेवाले ज्ञानीको इस देहकी चिंता नहीं होती ॥ ८६ ॥

अकिञ्चनः कामचारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः।
असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः ॥ ८७ ॥

जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष अकेला ही आत्मस्वरूपमें मग्न रहता है, कुछ पास नहीं रखता, अपनी इच्छानुसार वर्त्ताव करता है, उसको सुख दुःख नहीं व्यापते हैं, कोई संशय नहीं होता और वह सकल विषयों से विरक्त होता है ॥ ८७ ॥

निर्ममः शोभते धीरः समलोष्ठाश्मकाञ्चनः।
सुभिन्नहृदयग्रन्थिर्विनिर्धूतरजस्तमः ॥ ८८ ॥

हे राजन्! ममताका त्यागी मट्टी पत्थर और सोनेको समान मानने

वाला आत्मज्ञानके प्रभावसे दूर होगयी है हृदयकी गांठ जिसकी तथा दूर होगया है रजोगुण और तमोगुणका मल जिसका वह ज्ञानी परम शोभा पाता है ॥ ८८ ॥

सर्वत्रानवधानस्य न काचिद्वासना हृदि ।
मुक्तात्मनो वितृप्तस्य तुलना केन जायते ॥८६॥

हे जनक ! किसी विषयमें भी जिसके चित्तकी रुचि नहीं है, जिसके हृदयमें संसार की वासना का लेश भी नहीं है ऐसे आत्मानंदसे परम तृप्त हुए ज्ञानीकी समान कौन होसकता है ? ॥ ८९ ॥

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
ब्रुवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते ९०

जो जीवन्मुक्त जानता हुआ भी सांसारिक पदार्थोंको नहीं जानता है, देखता हुआ भी नहीं देखता है और कहता हुआ भी नहीं कहता है, ऐसा महात्मा, वासनाशून्य ज्ञानीके सिवाय और कौन होसकता है ? अर्थात् और कोई नहीं होसकता ॥ ९० ॥

भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते ।
भावेषु गलिता यस्य शोभनाशोभना मतिः ९१

हे जनक ! जिस जीवन्मुक्त ज्ञानीकी शुभ पदार्थोंमें इच्छाबुद्धि और अशुभ पदार्थोंमें द्वेषबुद्धि नष्ट होगयी है, ऐसा निष्काम पुरुष चाहे भिक्षु हो और चाहे राजा हो परम शोभा पाता है ॥ ९१ ॥

क्व स्वाच्छन्द्यं क्व सङ्कोचः क्व वा तत्त्वविनिश्चयः ।
निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः ॥९२॥

हे जनक ! जिसका चित्त निष्कपट और सरल है तथा जिसने आत्मसाक्षात्काररूप कार्यको सिद्ध करलिया है ऐसे जीवन्मुक्तको न स्वाधीनता ही होती है न पराधीनता ही होती है तथा तत्त्वका निश्चय करनेका प्रयोजन भी नहीं होता, क्योंकि—उसका देहाभिमान दूर होजाता है ॥ ९२ ॥

आत्मविश्रान्तितृप्तेन निराशेन गतार्त्तिना ।
अन्तर्यदनुभूयेत तत्कथं कस्य कथ्यते ॥ ९३ ॥

जो ज्ञानी आत्मस्वरूपके विषें विश्रामरूप अमृतको पीकर तृप्त हो

गया है, जिसको किसी विषयसुखकी आशा नहीं है, तथा जिसके सकल ताप शान्त होगये हैं वह जीवन्मुक्त ज्ञानी अपने अन्तःकरणम जिस आनन्दका अनुभव करता है, उसको कैसे कहै ? क्योंकि—उस की समान तो दूसरा आनन्द है ही नहीं और उस अनुभवको किस का कहै ? क्योंकि-वह तो स्वयं आत्मस्वरूप होता है ॥ ९३ ॥

सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च ।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदे पदे ॥९४॥

हे जनक ! जीवन्मुक्त ज्ञानी सुषुप्ति अवस्थामें वर्त्तमान होकर भी उस अवस्थाके अधीन नहीं होता है, स्वप्न अवस्थामें पहुँचकर भी शयन नहीं करता है, जाग्रत् अवस्थामें जागताहुआ भी उस अवस्था के विकारोंसे अलग रहता है क्योंकि-यह तीनों अवस्था बुद्धिकी हैं, वह तो बुद्धिसे पर और इन अवस्थाओंका साक्षी है ॥ ९४ ॥

ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः ।
सुबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहङ्कारोऽनहंकृती ॥ ९५ ॥

ज्ञानी अन्य लोगोंको चिन्ताग्रस्त प्रतीत होता हुआ भी निश्चिन्त होता है, लोकोंको इंद्रियोंवाला प्रतीत होने पर भी वास्तवमें इंद्रिय-रहित होता है, व्यवहारमें चतुर बुद्धिवाला प्रतीत होने पर भी वास्तव में बुद्धिरहित होता है तथा अहङ्कारी प्रतीत होने पर भी वास्तवमें वह निरहङ्कार होता है, क्योंकि-वह तो एक आत्मस्वरूपमें ही मग्न रहता है ॥ ९५ ॥

न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न सङ्गवान् ।
न मुमुक्षुर्न वा मुक्तो न किञ्चिन्न च किञ्चन ९६

जीवन्मुक्त ज्ञानी लोगोंको तो विषयोंको भोगता हुआ बड़ा सुखी प्रतीत होता है,परन्तु वास्तवमें वह विषयसुखमें आसक्त नहीं होता है, लोगोंको वह रोगादिसे दुःखी प्रतीत होता है परंतु वास्तवमें जिस शरीरमें रोग होता है उसमें उसकी आसक्ति ही नहीं होती, वह किसी पदार्थसे द्वेष न होनेके कारण विरक्त नहीं होता और कहीं उसका राग भी नहीं होता है, उसको मुक्त होनेकी इच्छा भी नहीं होती क्योंकि-वह अपनेको बंधनमें नहीं मानता है, इसकारण ही वह मुक्त भी नहीं होता है, क्योंकि-जो बंधनमें हो वही मुक्त होता है वह तो अनिर्वचनीय सत्स्वरूप होता है ॥ ९६ ॥

विक्षेपेऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान् ।
जाड्येऽपि न जडो धन्यः पाण्डित्येपि न पण्डितः ९७

संसारमें जीवन्मुक्त ज्ञानी धन्य है, क्योंकि-ज्ञानीको विक्षेप दीखता है परंतु वह विक्षिप्त नहीं होता है, उसकी समाधि होती है, परंतु वह समाधि नहीं करता है, ज्ञानी संसारी पुरुषोंको जड़सा दीखता है, परन्तु वह जड़ नहीं होता है तथा वह संसारी पुरुषोंको पण्डित प्रतीत होता है परन्तु वास्तवमें वह पण्डित नहीं होता है, क्योंकि—यह सब बातें तो देहाभिमानीमें होती हैं और ज्ञानी तो प्रारब्धको भोगता हुआ आत्मस्वरूपमें ही मग्न रहता है ॥ ९७ ॥

मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्त्तव्यनिर्वृतः ।
समः सर्वत्र वैतृष्ण्यान्न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥९८॥

प्रारब्धके अनुसार जैसी अवस्था प्राप्त हो उसमें ही स्वस्थ रहने वाला और किये हुए तथा कर्त्तव्य कर्मोंमें अहङ्कार और उद्वेग न करने वाला (सन्तोषी) तथा सर्वत्र आत्मदृष्टि रखनेवाला जीवन्मुक्त ज्ञानी तृष्णा न होनेके कारण यह काम करलिया और यह काम नहीं किया ऐसा स्मरण नहीं रखता है ॥ ९८ ॥

न प्रीयते वन्द्यमानो निंद्यमानो न कुप्यति ।
नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनन्दति ॥ ९९॥

हे राजन्! जीवन्मुक्तकी दूसरे पुरुष प्रशंसा करें तो वह प्रसन्न नहीं होता है और निंदा करें तो कोप नहीं करता है, मृत्यु सामने आजाय तो भयभीत नहीं होता है और बहुत वर्षों पर्यंत जीवित रहे तो उससे हर्ष नहीं मानता है, वह तो आत्माको नित्य मानता है इस लिये जन्म मरण उसको वस्त्र पहरने उतारनेकी समान प्रतीत होते हैं फिर इस नाशवान् शरीरके लिये हर्ष शोक कैसा? ॥ ९९ ॥

न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशान्तधीः ।
यथा तथा यत्र तत्र सम एवावतिष्ठते ॥ १०० ॥

जिसके चित्तकी वृत्ति शांत होगयी वह ज्ञानी न मनुष्योंसे भरेहुए देशमें को ही दौड़ता है और न निर्जन वनमें जानेकी ही इच्छा करता है, किन्तु उसको जहाँ कहीं जैसा भी स्थान मिलजाय तहाँ ही समय

को चितदेता हैं, क्योंकि-आसक्ति और अभिमानशून्य ज्ञानीकी दृष्टि में घर और वन दोनों एकसमान होते हैं ॥ १०० ॥

अष्टादश प्रकरण समाप्त.

तत्त्वविज्ञानसन्दंशमादाय हृदयोदरात् ।
नानाविधपरामर्शः शल्योद्धारः कृतो मया ॥ १ ॥

राजा जनक अष्टावक्रजीसे साधन सहित ज्ञानको सुनकर अपने को आत्मस्वरूपके विषे जो विश्राम प्राप्त हुआ उसके सुखका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि—हे गुरो ! मैंने आपसे तत्त्वज्ञानरूप संदश (संसी वा संडासी) को पाकर अपने हृदयमेंसे नानाप्रकारके सङ्कल्प विकल्प रूप काँटेको निकालडाला है ॥ १ ॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता ।
क्व द्वैतं क्व च वाद्वैतं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥२॥

जनकने कहा, कि—हे गुरो ! धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनसे अब मेरा क्या प्रयोजन है, तिन धर्मादिरूप काँटेको अपने हृदयमें से निकाल कर मैं अपनी महिमामें स्थित हूँ, अब मुझे द्वैत नहीं भासता है, इस कारण ही अद्वैत भी नहीं भासता है " उत्तीर्णे तु परे पारे नौकायाः किं प्रयोजनम् । " जब नदीके परले पार उतर गये फिर नौकाकी क्या आवश्यकता है ? ऐसे ही जब आत्मज्ञानसे द्वैतका बाध होजाता है तब अद्वैतविचारकी भी कुछ आवश्यकता नहीं रहती है ॥ २ ॥

क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्त्तमानमपि क्व वा ।
क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ३

हे मुने ! नित्य अपनी महिमामें स्थित जो मैं तिस मेरे लिये भूतकाल ? भविष्यत्काल कहाँ ? वर्त्तमानकाल कहाँ ? देश कहाँ ? तथा अन्य पदार्थ भी कहाँ ? क्योंकि-सर्वत्र मेरी तो एक आत्मदृष्टि है ॥३॥

क्व चात्मा क्व च वा नात्मा क्व शुभं क्वाशुभं तथा ।
क्व चिन्ता क्व च वाचिन्ता स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ४

हे गुरो ! अपनी महिमामें स्थित जो मैं तिस मेरी दृष्टिमें आत्मा अनात्माका व्यवहार कहाँ ? शुभ अशुभ कहाँ ? और चिंता तथा निश्चिंतता कहाँ ? यह नाना प्रकारके भेद तो अज्ञानी मूर्खों को भासते हैं ॥ ४ ॥

क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा ।
क्व तुरीयं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥५॥

हे मुने ! अपनी महिमामें स्थित जो मैं तिस मेरी दृष्टिमें स्वप्न सुषुप्ति वा जाग्रत् अवस्था नहीं है, क्योंकि-यह तीनों अवस्था बुद्धिका धर्म हैं, तुरीय अवस्था और भय मुझे नहीं होता है, क्योंकि-भय भी अंतःकरणके धर्म हैं, मेरे (आत्माके) धर्म नहीं हैं ॥ ५ ॥

क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं वाभ्यन्तरं क्व वा ।
क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ६

हे गुरो ! मुझ में दूर, समीप, बाहर, भीतर स्थूल वा सूक्ष्म नहीं है, क्योंकि-मैं तो अपनी महिमासे सर्वत्र व्यापक और सर्वरूप हूँ ॥६॥

क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकम् ।
क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ७

हे गुरो ! त्रिकालमें अपनी महिमामें स्थित मेरा (आत्माका) मरण जीवन, लोक, लोकमें कर्त्तव्यकार्य, लय वा समाधि कहाँ ? क्योंकि—मैं तो नित्य असङ्ग और शुद्ध चेतनरूप हूँ ॥ ७ ॥

अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाप्यलम् ।
अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि ॥८॥

हे गुरो ! आत्मस्वरूप के विषें विश्राम को प्राप्त हुआ जो मैं तिस मुझको धर्म अर्थ और कामकी चर्चा से कुछ प्रयोजन नहीं है तथा योग और ज्ञानकी चर्चासे भी कुछ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि-जब मैं आत्मस्वरूपका दर्शन पागया तो अब किसी साधनकी भी मुझे आवश्यकता नहीं है ॥ ८ ॥

एकोनविंश प्रकरण समाप्त

क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेन्द्रियाणि क्व वा मनः ।
क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरञ्जने ॥ १ ॥

हे गुरो ! मैं तो मायारूप मलसे रहित हूँ फिर मेरे शुद्ध स्वरूपमें पञ्चभूत, देह, इंद्रियें मन शून्यपना और निराशपना कैसे होसकता है

क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः

क्व तृप्तिः क्व वितृष्णत्वं गतद्वन्द्वस्य मे सदा २

हे गुरो ! शास्त्र पढ़ना, ज्ञानकी प्राप्ति करनी मनमें किसी विषय-वासनाको न उठने देना, सदा तृप्त रहना अथवा किसी तृष्णाको न उठने देना, यह सब मुझ (आत्मा) में कहां से होसकते हैं ? क्योंकि मैं तो निर्द्वन्द्व शान्तरूप हूँ ॥ २ ॥

क्व विद्या क्व च वाविद्या क्वाहं क्वेदं मम क्व वा ।
क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता ॥

हे गुरो ! मुझ (आत्मा) में विद्या वा अविद्या नहीं है, मैं हूँ मेरा है, इत्यादि अभिमान के धर्म नहीं हैं, वस्तुका ज्ञान मुझमें नहीं है, न मेरा बन्धन होता है, न मेरी मुक्ति होती है तथा चेतनस्वरूप मेरा कोई रूप भी नहीं है ॥ ३ ॥

क्व प्रारब्धानि कर्माणि जीवन्मुक्तिरपि क्व वा ।
क्व तद्विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा ॥ ४ ॥

हे गुरो ! मुझ निर्विशेष निरवयव आत्माके प्रारब्ध कर्म कैसे ? और जीवन्मुक्ति कैसी ? तथा मेरी विदेहमुक्ति भी नहीं है, क्योंकि-मैं सकल धर्मोंसे रहित हूँ ॥ ४ ॥

क्व कर्त्ता क्व च वा भोक्ता निष्क्रियस्फुरणं क्व वा ।
क्वापरोक्षं फलं वा क्व निःस्वभावस्य मे सदा ॥ ५ ॥

हे गुरो ! मैं सदा स्वभावरहित हूँ, इसकारण मुझमें कर्तापन भोक्तापन नहीं हैं, मैं क्रियाशून्य हूँ, मुझमें चित्तकी वृत्तिका फुरना नहीं है, मुझमें वृत्तिरूप ज्ञान नहीं है तथा विषयाकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यरूप फल भी मुझमें नहीं है ॥ ५ ॥

क्व लोकः क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान् क्व वा ।
क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥ ६ ॥

हे गुरो ! मैं अद्वितीय आत्मस्वरूप हूँ, इसकारण मुझे लोककी वा मोक्षकी इच्छा नहीं है, मैं न योगी हूँ, न ज्ञानी हूँ, न मेरा बंधन है, न मुक्ति है ॥ ६ ॥

क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनम्

क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥ ७॥

हे गुरो ! अद्वितीय आत्मस्वरूप मुझमें सृष्टि प्रलय, कार्य, साधन, साधक वा सिद्धि ये कुछ भी नहीं है, क्योंकि-मैं सब धर्मोंसे रहित हूँ ।

क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा ।
क्व किञ्चित्क्व ना किञ्चिद् सर्वदा विमलस्य मे ८

हे गुरो ! मैं सदा उपाधियोंसे रहित शुद्धरूप हूँ मुझमें प्रमाता प्रमाण, प्रमेय और प्रमा इनमें का कोई भाव नहीं है, और अमुक वस्तु है, वा कोई वस्तु नहीं है, ऐसी कल्पना भी मुझमें नहीं होसकती ॥८॥

क्व विक्षेपः क्व चैकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढता ।
क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे ॥

हे गुरो ! मैं सदा निर्विकार आत्मस्वरूप हू, ऐसे मेरे स्वरूप में विक्षेप कहाँ? जब विक्षेप नहीं तो एकाग्रताका प्रयत्न कैसा? ज्ञानीपना मूढ़ता, हर्ष और विषाद भी कहाँ ? क्योंकि-यह तो अंतःकरण के धर्म हैं ॥ ९ ॥

क्व चैव व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता ।
क्व सुखं क्व च वा दुःखं निर्विमर्शस्य मे सदा १०

हे गुरो ! सदा सङ्कल्प विकल्प रूप वृत्तिज्ञानसे रहित जो मैं तिस मेरे विषें यह जगत्‌का व्यवहार कहाँ ? और पारमार्थिक ज्ञान कहाँ ! सुख कहाँ ? और दुःख कहाँ ? यह तो सब अंतःकरणके धर्म हैं॥१०॥

क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व वा ।
क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे॥११॥

हे गुरो ! सदा मायामलसे रहित मुझ शुद्धस्वरूपके विषें माया कहां ? संसार कहां ? प्रीति कैसी ? वैराग्य किससे ? जीवभाव कहां और ब्रह्मस्वरूपका विचार कैसा ? ॥ ११ ॥

क्व प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा क्व मुक्तिः क्व च बन्धनम् ।
कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा ॥ १२ ॥

हे गुरो ! सदा कूटस्थ, विभागसे रहित और स्वरूपमें स्थित जो

मैं तिस मेरे लिये प्रवृत्ति, निवृत्ति, मुक्ति वा बन्धन कैसा ? ॥ १२ ॥

क्वोपदेशः क्व वा शास्त्रं क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः
क्व चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य मे १३

हे गुरो ! उपाधिसे रहित शिवरूप अर्थात् नित्य आनन्दस्वरूप जो मैं तिस मेरे लिये उपदेश, शास्त्र, शिष्यभाव, गुरुभाव और पुरुषार्थ-साधन नहीं है ॥ १३ ॥

क्व चास्ति क्व च वा नास्ति क्वास्ति चैकं क्व च द्वयम्
वहुनात्र किमुक्तेन किञ्चिन्नोत्तिष्ठते मम ॥ १४ ॥

हे गुरो ! मैं तो शुद्ध आत्मस्वरूप हूँ, मेरे विषे अस्ति कहिये है, और नास्ति कहिये नहीं है, ऐसी फुरना नहीं होती है, एकपना वा द्वैतपना नहीं है, इसप्रकार कल्पित पदार्थोंका वर्णन करूँ तब भी पार नहीं पासकता, इसकारण संक्षेपमें कहता हूँ, कि चेतनस्वरूप आत्मा में कोई भी कल्पना नहीं बनती है ॥ १४ ॥

इति श्री ब्रह्मविद्यायां हठयोगाभ्यासि ब्रह्मचारि
नर्मदानन्दकृत भाषाटीका सहिता
अष्टावक्रगीता समाप्ता.



322, 304, 294, 292, 290, 189, 186

tern Europe: The insurance industry under the impact of economic
nsition
tural catastrophes and major losses in 1993: Insured damage drops
nificantly
rld insurance in 1992: Accelerating worldwide growth - a positive
e of growth in all regions
e US property/casualty market from a European perspective: a market
erview
nsurance 1992 - a stocktaking of ten countries

e performance of the insurance industry in international comparison:
sk-adjusted analysis
e London Market
tural catastrophes and major losses in 1994: Third highest loss
rden in the history of insurance
e insurance industry in Eastern Europe: Recovery has begun
rld insurance in 1993: Accelerating premium growth
n-proportional reinsurance of losses due to natural disasters in 1995:
ces down despite insufficient cover
velopment of insolvencies and importance of security in the insur-
ce industry

gh volatility in aviation insurance: Are premium rates due for a
sedive?
tural catastrophes and major losses in 1995: decrease compared to
evious year, but continually high level of losses since 1989
ma-prospect: The insurance cycle passes its peak - increased price
mpetition and a sluggish economy dampen premium growth. Fore-
sts for 1996 and 1997 in the major non-life markets
rld insurance in 1994: Clear slowdown in North America and Japan,
duced momentum in Europe
urance derivates and securitization: New hedging perspectives for
e US catastrophe insurance market?
ia's insurance industry on the rise: into the next millennium with
bust growth
regulation and liberalization of market access: the European insurance
dustry on the threshold of a new era in competition
urance in Eastern Europe: a growth industry on the way towards
rket structures